समग्र

खंड तीन

समग्र

खंड तीन

आचार्य श्री विद्यासागर जी

समग्र प्रकाशन, सागर (म. प्र.)

प्रेरणा एवं शुभाशीष :

परमपूज्य - मुनिश्री १०८ क्षमासागर जी
परमपूज्य - ऐलक श्री १०५ उदार सागर जी
परमपूज्य - ऐलक श्री १०५ सम्यक्त्व सागर जी

समग्र - आचार्य श्री विद्यासागर जी
प्रकाशक **समग्र प्रकाशन** सागर (म प्र)
मुद्रक **शकुन प्रिन्टर्स** ३६२५ सुभाष मार्ग नई दिल्ली-२

नर्मदा का नरम कंकर

अमिताक्षर

यह कृति जो आधुनिक शब्द - विन्यासो, विविध भावाभिव्यजनाओं एव छद-बध-मुक्त, उन्मुक्त लय-धाराओ से आकृत है। व्यक्तित्व की सत्ता को नही छूती हुई, सहज स्वतत्र महासत्ता से आलिगित परम पदार्थ की प्ररूपिका है; परम शान्त अध्यात्म रस से आद्योपान्त आपूरित।

यद्यपि अध्यात्मपिपासु, साक्षर यह युग है, तथापि सही दिशाबोध के अभाव मे साधन मे ही साध्य सवेदना की परिकल्पना कर बैठा है। उसे यह विदित नही है कि ज्ञेय मे सुख निहित नही है, वह ज्ञान - ज्ञान की भीतरी अनी से फूटता है। ज्ञाता का ध्रुव ज्ञेय नही है किन्तु ज्ञान केवलज्ञान! द्रष्टा का केन्द्र बिंदु दृश्य नही है, परन्तु दर्शन - केवलदर्शन! हां, वह भी ज्ञान एव दर्शन, अपना और पराया, इस स्वामीपन की बुरी दुर्गन्ध से मुक्त सामान्य। अत अक्षर से अक्षरातीत, क्षरातीत - अन्तरहित, अक्षर-अनन्त परम पूत आत्मा को अनुभूत करना ही इस कृति का चरम ध्येय है।

इस कृति के सामयिक मत् - प्रेरक 'तीर्थंकर' पत्रिका के सम्पादक श्री डॉ नेमीचन्द जी है। फलस्वरूप जहाँ की हरित भरित पर्वतीय प्रकृति ने मानो कोटिश आत्माओ की प्रकृति को विषयो - कषायो से पूर्णरूपेण बचा कर मुक्ति दी है, उस परम पावन मुक्तिप्रदा मुक्तागिरि पर भीतरी - घटना का घटक, आत्म - तत्त्व से भावों, भावो से शब्दो एव शब्दो से भाषा का रूप मिलकर इसका सम्पादन हुआ है। धन्य! पूर्ण विश्वास है इसका सदुपयोग होगा, उपलब्ध उपयोग होगा।

यह सब स्व. वयोवृद्ध, तपोवृद्ध एव ज्ञानवृद्ध आचार्य गुरुवर श्री ज्ञानसागर जी महाराज के प्रसाद का परिपाक है। परोक्ष रूप से उन्ही के अभय चिन्ह - चिन्हित - युगल कर कमलो मे 'नर्मदा का नरम ककर' समर्पण करता हुआ . . !

गुरुचरणारविन्द चचरीक
ॐ शुद्धात्मने नम
ॐ निरजनाय नम
ॐ जिनाय नमः
ॐ निजाय नम·
(आचार्य श्री विद्यासागर महाराज)

अनुक्रम

३०	डूबा मन रसना मे
३१	दीन नयन ना
३२	राजसी स्पर्शा
३३	श्राव्य से परे
३४	ओ नासा
३५	सब मे वहीं मैं
३६	हुआ है जागरण

वचन सुमन

हे । महाज्ञान ।
महाप्राण ।
एकमेव
मेरे त्राण
प्राण प्रयाण की ओर
प्रतिकूल प्रकृति से
सुरक्षित कर
प्रकृति अनुकूल
उजल उजल
शीतल सलिल
सिचन किया
प्राण द्रुम मूल मे
आमूल चूल
विगत – अनागत
भूल
जैसे फूले
फूल

कृतज्ञता की अभिव्यक्ति
भावाभिव्यक्ति
कर लूँ उपयोग
जो मिली है
प्रसाद शक्ति
होने तुम सा ।
अमन ।
वचन सुमन
स्वीकार हो ।
हे परम शरण ।
समवशरण ।
चरम चरण ।
अतिम चरण ।

□□□

हे! आत्मन्

अपने सहज शुद्ध
अनत धर्मो
गुणो के
यथार्थ बोध से
वचित हो
युगो युगो से
बिना सुख शाति आनद
व्यतीत किया है
अनन्त काल ।

यह ससार सकल
त्रस्त है
पीडित है
आकुल विकल
कारण? और है इसमे

हृदय से कहाँ हटाया
विषय राग को
हृदय मे कहाँ बिठाया
वीतराग को
जो है
ससार भर मे केवल
परम शरण
तारण तरण ।

मानस हंस

आप
अराम्मति प्रकट कर नही सकते
यह मेरा निर्णय
स्वीकार करना पडेगा आपको
कि
आपका श्रीपाद
सुखद निरापद
अगाध । मानस
आनन्द की अपरिमेय लहरो स
लहरा रहा है
अन्यथा
तट पर तैरती हुई
गज मुक्ता को भी
पराजित करती हुई
अपनी अनुपम अनन्य
मृदु मजु कान्ति से
छविमय शुचिमय
शशि सित धवला
औ नखपक्तियो के मिष
मौक्तिक मणियॉ
चुन चुन चुगने क्यो
तत्पर है ।

मद मद
हॅसता हॅसता
यह मम मानस हस ।
सब हसो के
सब अशो के
अश अश के
पूरक अश ।
हे परम हस ।
हे अनुत्तर
उत्तर दो ।

□□□

अपने में ....एक बार

तम टला /चला
उडुदल हो चली
प्राची अरुणिमा
चला
मद मद सगध पवन
पवन की इच्छा है

अच्छा होगा ।
होगा स्वच्छ मम जीवन भी

एक बार सहर्ष
वीर चरण स्पर्श
कर लूँ । अतिम दर्श

न जाने अनागत जीवन ।
क्या विश्वास ?
आया न आया श्वास

लता लता के चूल पर
फूले फूल दल
फूले न समाते
स्वय वीर चरणो मे
करते समर्पण
स्मित सुमन ।

सन्मति के पद – पयोज पर
पयोज – पराग – लोलुपी
भव्य अलिगण
खुल खिल गुन गुन गुजार
नाच नाचते
मन ही मन

एक अपूर्व आस्था ।
मानो कहते
हम अमर बनेगे / नहीं मरेगे
जो किया सुधा सेवन
अपूर्व सवेदन
अनिमेष निरखती
जो धरती
युगवीर को/धीर को/गुणगभीर को
धन्यतमा मानती
स्वय को
तृण बिन्दुओ के मिष से
दृग बिन्दुओ से
इदु समान महावीर के
कर पाद प्रक्षालन ।
पावा उद्यान
आरूढ हो ध्यान यान
किया वर्द्धमान ने
निज धाम की ओर
महाप्रयाण ।
हे वीर ।
हो स्वीकार
मम नमस्कार
बने साकार
जो उठते बार बार विचार
मम मानस तल पर ।

भगवद्-भक्त

सराग पथ का वर्धक
साधक ।
विराग पथ का
बाधक ।

निस्सार
निष्प्रयोजन ।
जान / मान
अनुभव कर
जात पात से
पक्षपात से
ऊपर उठा हुआ
मैं

भगवद् भक्त ।
मेरे साथ
केवल गात

मुझे मिले
भाव भक्तिमय
सबल धवल

दो पख ।
पख के बल पर
और लघुतम हुआ
अर्कतूल ।
ऊपर उडता हुआ उडता हुआ
अपरिचित ऊँचाइयॉ
लॉघता लॉघता हुआ
वहॉ पहुँच गया हूँ
विषय वासना व्याप्त
धरती का गुरुत्वाकर्षण
नहीं करता आकर्षित
हर्षित तर्षित
किन्तु यह कैसा
अद्भुत। अदम्य। चुम्बकीय ।
परम गुरु का आकर्षण
गुरुत्वाकर्षण ।

प्रयत्न / प्रयास
आवश्यक नहीं
सब कुछ सहज /सरल
स्वतत्र
और
मै तैर रहा हूँ
चेतना के विशाल विस्तृत
निरभ्र आकाश मण्डल मे
नयन मनोहर
विहगम दृश्य का

अनिमेष
अवलोकन करता हुआ
अपने को पाया
घिरा हुआ
स्वतत्रता के दिव्य तेजोमय ।
द्वाभा मण्डल मे
विदित हुआ है
कि
शुद्ध किन्तु सहज किया का
यह सूत्रपात है
यथाजात है
यही सचमुच
रहा सब कुछ
मात तात है
तभी एक साथ
हो भू सात्
तीनो करण
मन वचन तन
सानन्द सादर
किया प्रणिपात है
फलस्वरूप
विशाल भाल पर
चरणरज कुन्दन कुकुम
अकित हुआ है
लग रहा है
तृतीय नेत्र उग रहा है

सारा तिमिर
भग रहा है
सोया जीवन
जग रहा है
जग रहा है
जग रहा है
कि
जिससे फूटती हुई
प्रचड ज्वालामुखी सी
त्रिकोणी लपटो मे
आगामी अनत काल के लिए
काल काम त्रस्त हो रहे है शनै शनै
पूर्ण ध्वस्त हो रहे है
एकमेव !
देवाधिदेव !
जय महादेव

शेष

एकाकी यात्री

हे आशातीत !

अपार/अपरम्पार
आशारूपी
महासागर का
पार/किनार

कैसा पा लिया?
आपने !
जिसका अवगाह
पाताल से सबधित

जिसके तट !
अनत से चुबित
विषमतामय विषय
क्षार जल से भरपूर

जिसको पार करते
अतीत मे
बार बार
कई बार
हार कर
डूब चुका हूँ

फिर भी
अब की बार

उस पार
पहुँचने का
पूरा विश्वास
मन मे धार
यद्यपि शारीरिक पक्ष
अत्यन्त शिथिल
दौर्बल्य का अनुभव ।

केवल
आत्मीय पक्ष ।
निष्पक्ष
सलक्ष्य

अक्ष विषय से ऊपर उठा हुआ
आपको बना साक्ष्य
आदर्श प्रत्यक्ष

अपने कार्य क्षेत्र मे
पूर्ण दक्ष।
साक्षी बने है

साहस उत्साह
और अपने
दुर्बल बाहुओ से
निरतर तैर रहा हूँ

एकाकी यात्री
अबाधित यात्रा कर रहा हूँ
अपार का पार पाने

बीच बीच मे
इन्द्रिय विषयमय

राग रंगिनी
तरल तरंगमाल
मुझ बाल के गले में
आ उलझती हैं,

पर। क्षणिका मिटती है
यह । उलझता नहीं
उस उलझन में

कभी
मिथ्यात्व मगरमच्छ
नीचे की गहराई में से आ
अविरल साधनारत मेरे
पैर पकड कर
नीचे ले जाने का साहस
प्रयास भर करता है

किन्तु असफल

कभी
विपरीत दिशा की ओर
तीव्रगति से
यात्रा करने वाली
कषाय हिमालय की
हिमानी चट्टाने
मेरी हिम्मत चुराने की
मुझे चूर चूर करने की
हिम्मत करती हैं

किन्तु उनसे बच
सुरक्षित निकलता हूँ

आगे आगे
भागे भागे
इन सभी अनुकूल प्रतिकूल
स्थितियों में से
गुजरता हुआ भी
आत्मा मे
नैराश्य की भावना
सभावना भी नहीं

तथापि
ऐसे ही कुछ
पूर्व सस्कार के
मादक बीज
आये हो बोने मे
धूल धूसरित
आत्म सत्ता के
किसी कोने मे
अकुरित हो न जाये
उनकी जडे
और गहराई मे
उतर न जाये
ऐसा
विभाव भाव भर
उभर आता है
कभी कभी

बाल भक्त के
भावुक भावित
मानस तल पर

फलस्वरूप
नहीं के बराबर
भीति का संवेदन
करता है
कम्पायमान
मेरा मन

गुमराह ।
अरे अब तक
कहॉं तक आया हूँ
यह भी विदित नहीं

हे दिशा सूचक यत्र ।
दिशा बोध तो दो
पारदर्शन नहीं हो रहा है
अभी कितनी दूर।
इतनी दूर वो रहा।

ऐसी ध्वनि ओंकार ।
कम से कम
प्रेषित कर दो
इन कानों तक

हे मेरे स्वामी ।
अपार पारगामी ।

एक और भूल

अपनी ही भूल
चल चल चाल
प्रतिकूल
विषय विलासता मे
लीन विलीन
झूला झूल
दिन रात
क्षणिक नश्वरशील
सवेदित सुखाभास से
मृदुल लाल उत्फुल्ल
गुलाब फूल से भी
अधिक फूल
मोहभूत के
वशीभूत हो
भूत सदृश
भूतार्थ मूल
भूत मे
दुख वेदना यातना
निरतर अनुभव किया
प्रभूत ।
आपने भी

जब यह गूढतम रहस्य
तप पूत गुरुओ की
सुखदायिनी
दुखहारिणी
वाणी
सुनकर
प्रशस्त मन से ।
विदित हुआ
आपको

कि
अपनी चेतना की
निगूढ सत्ता मे
मायाविनी सत्ता
बलवत्ता से आकर
प्रविष्ट हुई है

अदृष्ट।
दृष्टि अगोचर ।
कृत सकल्प
हुए आप

नहीं विलब स्वल्प भी
अविलम्ब ।
अल्पकाल मे ही

कल्पकाल से आगत का
बहिष्कार आवश्यक

काल ने करवट लिया अब
वह काल नहीं रहा
स्वागत का
रहा केवल स्वारथ का
उतर गया
माया की गवेषणा को
गवेषक
बेशक
उपयोग की केन्दीय सत्ता पर
सत्ता के कोन कोन
बौद्धिक आयाम से
अविराम ।
चितन की रोशनी मे
छन गये

पर
पर क्या ?
माया की सत्ता का
पता?
लापता
उसी बीच
गवेषक की बुद्धि मे
सहज बिना कसरत
एक युक्ति झलक आयी

कि
उपयोग की समग्र सत्ता को
जला दिया जाय !
तो
निश्चित
अनत लपटो से
धू धू करती
धधकती
परम ध्यानमय
निर्धूम अग्नि से
उपयोग की विशाल सत्ता
तपने लगी
जलने लगी

तभी
गहराई में गुप्त लुप्त सुप्त
माया की सत्ता
ज्वर सूचक यत्रगत
पारद रेखा सम ।
उपयोग केन्द्र से
यौगिक परिधि मे
मन वचन तन के वितान मे
चढती फैलती देख
पुरुष ने
योग निग्रह
सकोच किया
सूक्ष्मीकरण
विधान से

उपयोग यौग से
बहिर्भूत स्थूलकाय मे
उसे ला जलाना प्रारम्भ किया
फलस्वरूप
वह पूर्ण काली होकर
बाहर आकर
विपुल जटिल कुटिल
आपके उत्तमाग मे उगे
बालो के बहाने

अपने स्वरूप
कुटिलाई का परिचय
देती हुई वह माया
जड की जाया
छाया ।
हे निरामय ।
हे अमाय।

मनमाना मन

माना
मानता नहीं मन

मनाने पर भी
मनमाना
करता है मॉग

मना करने पर भी
फिर भी
विषयो की ओर !
बार बार
गतिमान धावमान
स्वय बना है
नादान

हिताहित के विषय मे
स्व पर बोध
नहीं रखता
अनजान!

इसकी इस
स्वच्छन्दता
उच्छृखलता
देख जान
होगे आप
पीडित परेशान

और इसे
नियन्त्रित सेवक बनाने
अथवा पूर्ण मिटाने
षड्यत्र की योजना में
इसी की सहायता से
होगे सतत
प्रयत्नवान
फिर भी आप
जानते मानते
अपने आप को
धीमान सुजान ।
इससे मैं
विस्मितवान ।
मन को मत छेडो
बिना मतलब
उसे
मत मारो, छोडो
सॅभालो सुधारो
दया द्रवीभूत
कण्ठ से
विनय भरे
हित मित मिष्ट
वचनो से
वह नादान
नादानी तज

बने मतिमान
सही सही समितिमान
मोक्ष पथ का पथिक
गतिमान औ प्रगतिमान

बिना मन
चढ़ नहीं सकता
मोक्ष महल का
वह सोपान
यह असुमान !

बिना मन
हो नहीं सकता
वह अनुमान
केवलज्ञान !
पूर्ण प्रमाण !

बिना मन
हो नहीं सकता
मोक्ष महल का
आविर्माण
नवनिर्माण !

तनिक हो सावधान
उस ओर दो
तनिक ध्यान
कि
मन का मत करो
उतना शोषण !

मत करो मन का
उतना पोषण !

पोषण से
प्रमाद पवमान
अप्रमादवान
प्रवहमान

तब बुझता है आत्मा का
शिव पथ सहायक
वह रोशन।

मन का शोषण
उल्टा तनाव
उत्पन्न करता है

तनाव का प्रभाव
उदित हो निश्चित
विभाव/विकार भाव

फलत
जीवन प्रवाह
विपरीत दिशा की ओर।
होता प्रवाहित
भरता आह !

श्राव्य/श्रुति मधुर
स्वर लहरी
लय ध्वनियॉं
सुनना है यदि
वीणा का तार

इतना मत कसो
कि
टूट जाय

सगीत संवेदना की धार
छूट जाय

और
इतना ढीला भी नहीं
कि
अनपेक्षित रस विहीन
स्वर लयो का झरना
फूट जाय

माना
मन करता
अभिमान
चाहता है गुरुओ से भी
उच्च उत्तुंग स्थान

चाहता अपना
सम्मान/मान
सदा सर्वथा
तीन लोक से
पद-प्रणाम
पूजा नाम

तथापि उसे समझाना है
स्वभाव की ओर लाना है

क्योकि उसे
अज्ञात है
गुण गण खान
अव्यय द्रव्य
भव्य दिव्य

ज्ञात है केवल
पर प्रभावित
वह पर्याय

यदि उसमे जागृत हो
स्वाभिमान
तभी बनेगा
वही बनेगा
निरभिमान

मानापमान
समझ समान

फिर
फिर क्या!

आरूड हो ध्यान यान
पल भर मे
प्रयाण

जिस ओर ओ
है निज धाम
है निर्वाण

वही मन
भावित मन
करे स्वीकार

मेरे इन
शत शत प्रणाम!
शत शत नमन!

शेष रहा चर्चन

अविचल
मलयाचल-गत
परम सुगंधित
नंदन-वंदित
आतप-वारक
चदन-पादप

जिनसे
लिपटी/चिपटी
पूँछ के बल पर
बदन घुमाती
उड़न चाल से
चलने वाली
चारों ओर
मोर शोर भी
ना गिन

गंधानुरागिन
अनगिन
नागिन।
स्वस्थ समाधिरत
योगिन सी
पर

•

उन्हीं घाटियाँ
पार कर रहा
मन्द/मन्दतम
चाल चल रहा
अनिल अविरल अहा !

श्रान्त क्लान्त है
शान्ति की नितान्त
प्यास लगी है उसको
आत्म प्रान्त मे

तडफडाहट
अकस्मात् !
भाग्योदय !
दयनीय हृदय
अपूर्व सवेदन से
गद्‌गद हुआ
हुआ पीडा का
विलय प्रलय

आपके
अपाप के
मुक्त परिताप के
चरणारविन्द का

जिससे पराग झर रही
मृदुल सर्स्पश पाकर
पराग भरपूर पीकर
निस्सग बहता बहता
वह !

सर्वप्रथम
अपने साथी
भ्रमर दल को
सारा वृत्तान्त
सुनाया जाकर

सवेदित अपूर्व
पराग दिखाकर
आपके प्रति राग जगाया
सादर

भीतर और बाहर
धन्यवाद कह
बाद वह
अलिदल
उड पडा
सहचर सूचित
दिशा की ओर

वायुयान गति से
प्रतिमुहूर्त
सौ सौ योजन
बनाकर केवल
प्रयोजन
रसमय अपना
भोजन

सुनो फिर तुम
क्या हुआ भो ! जन !
किया प्रथम बार

दर्शन सार
परमोत्तम का
पुरुषोत्तम का
रत्नत्रय प्रतीक
तीन प्रदक्षिणा
दे कर
पुनीत/पावन
पाद पद्म में
प्रमुदित प्रणिपात
नतमाथ
तभी तैर कर आया
विगत आगत का
जीवन प्रतिबिम्ब
स्वच्छ/शुद्ध
विजित-दर्पणा
प्रभु की
विमल-नखावली मे
अलिदल दिल
हिल गया
पिघल गया
जो किया है
कर्म ने वही
अब दिया है
फल-प्रतिफल पल पल
अपना आनन
अपना जीवन
सघन तिमिरसम

कालिख व्याप्त
लख कर
मानो विचार कर रहा
मन मे
कि
पर पदार्थ का ग्रहण
पाप है

किन्तु
महापाप है
महाताप है
करना पर का सचय
सग्रह
इस सिद्धात का
परिचायक है

मेरा यह
तामसता का एकीकरण
सग्रह ।

विग्रह मूल, विग्रह ।
तभी से वह
भ्रमर दल
चरण कमल का केवल
करता अवलोकन

पल भर बस ।
छूता है
विषयानुराग से नहीं
धर्मानुरागवश।

गुन गुनाता
कहता जाता
भ्रामरी चर्या
अपनाओ ।

शेष रहा
ना अपना ओ
सपना ओ

आश्चर्य ।
प्रथम बार दर्शन
जीवन का कायाकल्प

अल्प काल में
अनल्प परिवर्तन
क्राति ।
सतोष सयम शाति

धन्य ।
किन्तु खेद है ।
नियमित प्रतिदिन
आपका दर्शन/वदन
पूजन/अर्चन
तात्विक चर्चन
समयसार का मनन ।

फिर भी
तृण सम
जिन का तन जीर्ण शीर्ण
इन्द्रिय गण मे
शैथिल्य

विषय रसिकों में
प्रथम श्रेणी उत्तीर्ण
जिन का तामस मन !
आर्थिक चिंताओ से
आकीर्ण
जिनका रहता भाल

साधर्मी को लखकर
करते लोचन लाल
चलते अनुचित चाल

आत्म प्रशसा सुनकर
जिन के खिलते गाल

धर्म कर्म सब तजते
जहॉ न गलती अपनी दाल !

रटते रहते
हम सिद्ध हैं
हम बुद्ध हैं
परिशुद्ध हैं

तनिक दाल में/नमक कम हो
झट से होते कुद्ध हैं

कहते जाते
जीव भिन्न है
देह भिन्न है
मात्र जीवन से
दर्शन ज्ञान अभिन्न

तनिक सी प्रतिकूलता मे
होते खेद खिन्न !

यह कैसा
विरोधाभास ?

विदित होता है
भ्रमर का प्रभाव भी
इन भ्रमितो पर
पडा नहीं

हे ! प्रभो!
प्रार्थना है
कि
इनमे
ज्ञान भानु का उदय हो

विभ्रम तम का विलय हो
इन्द्रिय दल का दमन करे
मोह मान का वमन करे
कषाय गण का शमन करे
शिव पथ पर सब गमन करे

बनकर साथी
मेरे साथ
दो आशीष
मेरे नाथ !!

मानस दर्पण में

मिटटी की दीपमालिका
जलाते बालक बालिका
आलोक के लिए
ज्ञात से अज्ञात के लिए
किन्तु अज्ञात का/अननुभूति का/अदृष्ट का
नहीं हुआ सवेदन/अवलोकन

वे सजल लोचन
करते केवल जल विमोचन
उपासना के मिष से
वासना का रागरगिनी का
उत्कर्षण हा ! दिग्दर्शन
नहीं नहीं कभी नहीं
महावीर से साक्षात्कार

वे सुदरतम दर्शन
उषा वेला मे
गात्र पर पवित्र
चित्र विचित्र
पहन कर वस्त्र
सह कलत्र पुत्र
युगवीर चरणो मे

सबने किया मोदक समर्पण
किन्तु खेद है
अच्छ स्वच्छ औ' अतुच्छ
कहॉ बनाया मानस दर्पण ?

तमो रजो गुण तजो
सतो गुण से जिन भजो
तभी मँजो/तभी मॅजो
जलाओ हृदय मे जन जन दीप
ज्ञानमयी करुणामयी
आलोकित हो/दृष्टिगत हो/ज्ञात हो
ओ सत्ता जो समीप।

बिन्दु में क्या .... ?

मम चेतना की धरती पर
उतर आया है सहज
एक भाव
कि
अब इस बिन्दु को
विनीत भाव से
अर्पित समर्पित कर दूँ
सिन्धु को
क्योंकि व्यक्तित्त्व की सत्ता का
अनुभव
सुख का नहीं
दुख का
अमूर्त का नहीं
मूर्त का
द्रव्य द्रष्टा का नहीं
क्षय दृश्य का
दर्शक है
नितान्त।

हे अपार सिंधु ! अपरंपार !
इस बिन्दु को
अवगाह दो
अवकाश दो
अपनी अगम/अथाह
महासत्ता में
जिसमें मनमोहक
सुख सदोहक
अविरल/अविकल
तरल तरंगे उठती हैं
ओर-छोर तक जा
लीन विलीन हो जाती हैं
उस दृश्य को
तुम्हारी पीठ पर
आसीन हो
देख सकूँ
किन्तु वे बिन्दु मे क्या?
उठती हैं।
क्या
बिन्दु के बिना
उठती हैं ।

□□□

नर्मदा का नरम कंकर

युगो युगो से
जीवन विनाशक सामग्री से
संघर्ष करता हुआ
अपने में निहित
विकास की पूर्ण क्षमता सजोय
अनन्त गुणों का
सरक्षण करता हुआ
आया हूँ
किन्तु आज तक
अशुद्धता का विकास
हास
शुद्धता का विकास
प्रकाश
केवल अनुमान का
विषय रहा विश्वास
विचार साकार कहाँ हुए ?
बस ! अब निवेदन है
कि या तो इस ककर
को फोड फोड कर
पल भर मे
कण कण कर
शून्य मे
उछाल
समाप्त कर दो
अन्यथा
इसे
सुन्दर सुडौल
शकर का रूप प्रदान कर
अविलम्ब
इसमें
अनत गुणों की
प्राण प्रतिष्ठा
कर दो
हृदय मे अपूर्व निष्ठा लिए
यह किन्नर
अकिचन किंकर
नर्मदा का नरम ककर
चरणो मे
उपस्थित हुआ है
हे विश्व व्याधि के प्रलयकर।
तीर्थकर !
शकर !

□□□

पूर्ण होती पाँखुडी

अकस्मात्
अप्रत्याशित
घटना घटी
न ज्ञान था
न अनुमान
भाग्य।
अपरिमाण का
अपरिणाम का प्रमाण का
साक्षात्कार ।

परिणाम यह हुआ
कि
अप्रमाण परिमाण मे
विनत भाव पूरित
परिणाम आविर्भूत हुआ है

कि स्वीकार हो
प्रणाम
किन्तु
कर कमल कुड्मलित नहीं हुए
मुकुलित नहीं हुए
खिले खुले ही रहे
याचक बन कर ।
मस्तक तक अवनत नहीं हुआ

मुख खुला नहीं
रहा बन्द
अन्दर उठते हुए शब्द
नहीं बने मधुर छन्द
बाहर आकर।

क्योंकि
विषयो की विषय दाह से
पूरी तपी चिर तृषित
आमूल चूल फैली चेतना
सकुचित हो, संकलित हो
आँखो मे आ
आँखों से
हे पीयूष पूर।
रूपागार।
अनगार।
अपरूप रूप का/अरूप का
अनुपान कर रही

उस तरह
जिस तरह
ग्रीष्मकालीन
तरुण अरुण की
प्रखर किरणो से
सतप्त धरती
वर्षाकाल के
अपार जल को
बिना श्वास लिये
पीती है।

□□□

प्रभु मेरे में मैं मौन

लोक को
अलोक को
आलोकित करने वाले
आलोक धाम
ललाम लोचनों का
अलोल
अडोल
तिमिराच्छन्न
लोचनों ने
अवलोकन किया
धन्य ।

प्रतीत हो रहा है
कि
मम लोचन प्रतिछवि मे
प्रकाशपुज प्रभु
तैर रहे हैं
अपने पावन जीवन में
एक साथ
उघडे हुए
अनत गुणो के साथ

अद्भुत परिणमन यह
काल !
भेद की रेखा
आल जाल
अन्तराल कहाँ संवेदित है ?
कि
मैं कौन?
प्रभु कौन?
दोनो दिगम्बर
मौन !
इस परिणमन के केन्द्र मे
मुख्य औ गौण की विधि
स्वय गौण !
इसी बीच
मेरे मन मे
विकल्प ने करवट लिया
कि
ध्रुव को छूने के लिए
यह सुदर अवसर है

और मैं
सविनय. . .
दोनों घुटने टेक
पंजो के बल बैठ
दो दो हाथो से
अकम्प/अक्षय/अखड दीपक
की ओर

चिर बुझा
दीपक बढाया
जलाने
जोत से जोत मिलाने

किन्तु
न जाने
यह कौन सी सत्ता
बलवत्ता ने
महासत्ता की ओर
जाती हुई मम सत्ता को
रोका है
टोका है

मध्य मे
व्यवधायक बन
व्यवधान उपस्थित किया है

अकस्मात्
अकारण
हे तरण तारण

चरणों मे शरणागत को
दो शरण
दो !
दो किरण !

□□□

समर्पण द्वार पर

दिगम्बरी दीक्षा
पश्चात्
पावन वेला में
परम पावन तरण तारण
गुरु चरण सान्निध्य में
ग्रन्थराज 'समयसार' का
चिंतन
मनन
अध्ययन
यथाविधि प्रारभ हुआ

अहा !
यह थी गुरु की गरिमा
महिमा/अस्तिमा

कि
कन्नड भाषा-भाषी
मुझे
अत्यन्त सरल/श्रुति मधुर
भाषा शैली मे
'समयसार' के
हृदय को
खोल खोल कर

बार बार दिखाया

प्रति गाथा मे
अमृत ही अमृत भरा है
और
मैं पीता ही गया
पीता ही गया

माँ के समान गुरुवर
अपने अनुभव और मिला कर
घोल घोल कर
पिलाते ही गये
पिलाते ही गये !
मुझे !
शिशु बाल मुनि को !

फलस्वरूप
उपलब्धि हुई
अपूर्व विभूति की
आत्मानुभूति की

और 'समयसार'
ग्रन्थ भी

ग्रन्थ / परिग्रह
प्रतीत हो रहा है
पीयूष भरी गाथाये
रसास्वादन मे
डूब जाता हूँ
अनुभव करता हूँ
कि

ऊपर उठता हुआ
उठता हुआ
ऊर्ध्वगममान होता हुआ
सिद्धालय को
पार कर गया हूँ
सीमोल्लघन कर गया हूँ

अविद्या कहाँ ?
कब ?
सरपट चली गई
पता नहीं रहा

आश्चर्य यह है कि
जिस विद्या की चिरकालीन
प्रतीक्षा थी
उस विद्यासागर के भी पार
बहुत दूर
दूरातिदूर
पहुँच गया हूँ

अविद्या/विद्या से परे
ध्यान-ध्येय/ज्ञान-ज्ञेय से परे
भेदाभेद/खेदाखेद से परे

उसका साक्षी बनकर
उद्‌ग्रीव उपस्थित हूँ
अकम्प निश्चल शैल ।
चारो ओर छाई है
सत्ता महासत्ता
सब समर्पित अर्पित
स्वय अपने मे

□□□

जीवित समयसार

शुद्धता की चरम सीमा पर
सानन्द नर्तन करता हुआ
शुद्ध स्फटिक मणि से
नि सृत
दधि दुग्ध धवलित
निर्जरा का निर्झर! निर्झर!
झर! झर! झर!

अरुक / अथक
अनाहत गति से
उस ध्रुव बिन्दु की ओर
अपार अनत
सिन्धु की ओर
पथ मे किसी से
वार्ता नहीं
किसी से चर्चा नहीं
किसी प्रलोभनवश
किसी सम्मोहनवश
अन्य किसी की अर्चा नहीं

तथापि मौन भाषा मे
अविरल/अविकल
मनमोहक सगीत
गुनगुनाता
सहज सुनाता
जा रहा । कि

उपास्य के प्रति
अपने जीवन के
अपने सर्वस्व के
अर्पण में
समर्पण मे ही
उपासना का
साकार ।
निराकार ।
निर्विकार ।
दर्पण निहित है

जिस दर्पण मे
उपास्य की
उपासक की
एव
उपासना की
गतागत
अनागत प्रतिछवियॉ
गुण मणियॉ
झिलमिल झिलमिल
निधियॉ
तरल तरगित हैं

लो ।
यह कैसा ? अद्भुत परिणमन
विविध गुणो के सुमन
विलस रहे हैं
वस्तुत. सब कुछ उपलब्ध हुआ है
इस समय
तभी खुल खिल विहँस रहे हैं
प्रति समय
उनके परिणाम
अविराम विनस रहे हैं

किन्तु गुणों का अभाव ।
नहीं हो रहा है
रहा है सद्भाव
तद्भाव ।

क्योकि परिणमन रूपी
बहता हुआ पवन
मन्द मन्द
उन गुण सुमनो के
मकरन्द को
सम्पूर्ण चेतना मडल में
प्रसारित कर रहा है

फलस्वरूप
समग्र जीवन सुगंधित हो
महक उठा है

सुन लो ।
तब यह गीत
चहक उठा है

यह है चिदानन्दमयी
नन्दन।

यहाँ
ना तो बन्धक है
ना बन्धन।
ना तो क्रन्दक है
ना क्रन्दन।
और
और क्या
ना तो वन्दक है
ना वन्दन।

चेतना की यह असीम
. .... अपार धरती
एक अपूर्व सवेदनामय
हरीतिमा से उल्लसित
पुलकित है
लो! मन को हरती है
भूत नहीं है
अभूत।
अनुभूत नहीं है
अननुभूत।
अद्‌भुत।

यह भी निश्चित
विदित हुआ है
कि
अतीत का सृष्ट नहीं है, असृष्ट
दृष्ट नहीं है, अदृष्ट

ऐसे दृश्य पर
दृष्टिपात किया है
इस मौन द्रष्टा ने
स्वयं के स्रष्टा ने
एक सौम्य भाव से
सहज भाव से
जिस दृश्य का दर्शन
दुर्लभ, दुर्लभतर, दुर्लभतम है

नागलोक के नागेन्द्रों
अमरलोक के अमरेन्द्रो
नरलोक के नरेन्द्रों
एव
तत्त्व चितन के घूँघट मे रहने वाले
विषयो के दास
दासानुदास
विषयी विलासियो को
इतना ही नहीं
जिन की ज्ञान चेतना मोहग्रस्त है

और
और क्या
मात्र क्रियाकाण्ड में व्यस्त
मस्त।
साधु संन्यासियो को भी
यह श्रुत परिचित/विदित
सकल ससार / विकल अपार
सागर है क्षार
दुख से भरपूर

ऐसा मानता आया
आभास करता आया
अब तक !
आनद से
सहज सुख से
रहा मै दूर
किन्तु आज वह
झूठी
भ्रान्त धारणा टूटी
जीवन मे
आलोक की
प्रखर किरण फूटी है

और मैं
आसीन हूँ
सुखासीन हूँ
स्वाधीन हो
विभाव के अभाव मे
तनाव के अभाव मे
सहज स्वभाव मे
चेतन की छॉव मे
लो !
अनुभव कर रहा हूँ कि
सत्य प्रमाणित होता जा रहा है
तथ्य सम्मानित होता जा रहा है

सुख को
मेरा कृत्य अबाधित
बोता जा रहा है

ससार
नहीं असार
नहीं क्षार
सागर

किन्तु सम सम्यक्
समीचीन सार
है ससार
साकार/चेतनाकार
सब सारो का सार
जीवित समयसार ।

शरण चरण

शरद जलद की
धवलिमा सी
छवि धारती
मृदुल मृदुलतम
सकल दलों सहित
मम चेतना कुमुदिनी के
विकास हास उल्लास मे
आपके
शुभ्र शुक्ल
अतुलनीय कमनीय
वर्तुलीय विमल निर्मल
शीतल
मुख मण्डल से
पराज़ित हुआ
लज्जित हुआ
पूर्ण चन्द्र भी
चूर चूर हो
अशरण हो
आपके
तारण तरणों
चरणों मे
शरणाभिलाषी
दिन रात
सेवारत
नखावलि के मिष।
कारण है।
हे! जगदीश।
सकलज्ञ धीश।

दर्पण में एक और दर्पण

हे! कंदर्प दर्प से शून्य ।
जित कंदर्प !

सम्पर्क में
जब से
आया हूँ
आपके ।

आपके
तप्त कनकाभ तन के
मेरू अकम्प मन के
नीर निधि गभीरतम
दिव्य श्राव्य वचन के

और ।
महासत्ताभिभूत
गुणगण के
परिणमन का प्रभाव ।
ऐसा पडा है
मुझ पर ।

कि
अकृत पूर्व निजी कार्य में
अनिवार्य मैं
अहर्निश हुआ हूँ
तत्पर ।

और यह क्या ?
जीवन का वह प्राचीनतम रग
चंचल सकम्प मन का ढग
अग व्यग और अनंग !
पूर्णत परिवर्तित हो गया है
एक मौलिक
अलौकिक आभा में
तुम सा !

किन्तु!
इसमे
केवल !
आपकी ही विशेषता नहीं है !
मेरी भी !
आप मे
प्रभावित करने की शक्ति निहित है
तो !
इस चेतन मे प्रभावित होने की
भावित होने की
यह निमित्त-नैमित्तिक सबध है

आप निमित्त हैं बाह्य कारण
मैं उपादान आभ्यतर
अनन्यतर
इतना ही मुझमें और आप मे
अतर

उचित ही है
प्रत्येक निमित्त, प्रत्येक उपादान को
प्रभावित नहीं कर सकता

हाँ ! प्रत्येक उपादान, प्रत्येक निमित्त से
प्रभावित भी कहाँ होता ?

लाल लाल कोमल
गुलाब फूल !
उज्ज्वल/उज्ज्वलतम
स्फटिक मणि को
अपनी आभा के अनुरूप
अनुकूल भावित करता है
किन्तु
पाषाण खड को क्यो नहीं करता?

□□□

वंशीधर को

हे अनंत !
हे अमूर्त!

अनंत अमूर्त आकाश में
होकर भी
विमलता की अभ्रंलिहा
शिखरिणी पर
आवास अवकाश है आपका

जब ये मूर्त लोचन
विषयातीत होकर भी
विषय नहीं बना पाये आपको

तब !
अन्य सभी कार्यों से उदास
यह मेरा मन
क्षण क्षण
आपके श्रुत का आधार ले
आप तक पहुँचने का प्रयास
प्रारभ किया है
लो ! अनायास

श्वास श्वास पर
आपके नाम अंकित आसीन
कराता

श्वास नाभिमडल से
प्रतिक्रमा के रूप मे
हृदय कमलचक्र से
पार कराता हुआ
ब्रह्मरध्र तक पहुँचाता
ऊर्ध्वगम्यमान
आज !
आपका श्रुतिमधुर सगीत
निजी श्रवणों से
साक्षात्कार कर रहा हूँ

निस्सग हो
निश्शक हो
निडर/निश्चित हो
मौन ! मृदु मुस्कान के साथ
हे ! नाथ !

उचित ही है
पुखराज की हरीतिमा को
जीतने वाली
चचल माला लचीली
पतली तनवाली

थोड़ा सा
पवन का झोका खा
झट सी धरा पर गिरने वाली

माधुर्य मार्दववती
माधवी लता
अपदा अशरणा भी !

उत्तुग ऋजु वंश की
शरण ले
वश से लिपटती लिपटती
गुरुओं के प्रति समर्पण जीवन मे
अवशजा पर ! ।
वंश मुक्ता को

औ' ।
वशीधर को भी
प्रभावित करती हुई
वशातीत हो
शून्य मे
शून्य से
वार्ता करती
लहलहाती
क्या नहीं जीती ?

□□□

विभाव अभाव

हे ! प्रभो !
आपने
सिद्धात के सारमय
समयसारमय
वीतराग वीतमोह
स्वभाव भाव की
प्रसूति से
पर निरेपक्ष
स्वापेक्ष विभूति से
शुद्धात्मानुभूति से
वैभाविक / औपाधिक
क्रोध प्रणाली को
जो ससार की पृष्ठभूमि है
जड है
अपने चेतन के धरती – तल से
आमूल उखाड दिया है

अन्यथा
आपाद कठ
अग अग
औ उपाग
आपके
अनग के अग की
नैसर्गिक आभा का
उपहास करने वाले
पलाश के उत्फुल्ल
फूल की लालिमा को
धारण करते हैं
किन्तु
करुणा रस से आपूरित
लबालब
निश्चल अडोल
विशाल दो लोचन
लाल अरुण वर्ण से
वचित क्यों?
रजित क्यो नहीं?

□□□

हे निरभिमान

अहर्निश आत्मा मे
ध्यान निधिध्यास
अध्यास/अभ्यास के
फलस्वरूप
आपमे हुआ है
सम्यग्ज्ञान रूपी
जाज्वल्यमान
प्रमाण का
आविर्माण
इसीलिए
चेतना की समग्र सत्ता पर
पूर्ण प्रभाव डालता
विद्यमान
मूर्तमान
मान ने
भावी अनतकाल के लिए
आपको अपनी पराजित
पराभूत ।
पीठ दिखाता
धावमान
किया प्रयाण

हे निरभिमान!
यह अतर्घटना की भावाभिव्यक्ति
प्रमाण की सघन शान्त छाँव मे
सहज सहवास मे
रहने वाली
धरती निरखती
आपकी नत / विनम्र नासिका ने
मानाभिभूत मान की मूर्ति
पूर्ण फूला चम्पक फूल को
जीतती हुई
की है . . ।

□□□

आकार में निराकार

स्वयं को अवगाहित कर रहा हूँ
अतल अगम सत् चेतना के गहराव में
मस्तक के बल पर

दोनो हाथो से
नीचे से नीर को चीरता हुआ
चीरता हुआ
ऊपर की ओर फेकता हुआ
फेकता हुआ
जा रहा हूँ
आर पार होने
अपार की यात्रा करने

पथ मे कोई आपत्ति नहीं है
आपत्ति की सामग्री अवश्य !
ऊपर नीचे
आगे पीछे
बिछी है

किन्तु अभी कोई ओर छोर
दृष्टि में नहीं आ रही है
शोर भी तो नहीं
चारों ओर मौन का साम्राज्य
विस्तृत वितान
बस!
सब कुछ स्वतंत्र

अपनी अपनी सत्ता को सँजोये हुए
सहज सलील समुपस्थित
परस्पर मे किसी प्रकार का टकराव नहीं
लगाव के भाव नहीं
अपने अपने ठहराव मे
अपने अपने सवेदन
अपने अपने भाव
पर से भिन्न
अपने से अभिन्न
निरभ्र आकाश मडल में
उडुदल की भाति
ज्ञानादि उज्ज्वल उज्ज्वल गुणमणियॉ
अवभासित हैं
अवलोकित है
आलोक का परिणमन यहॉ
घनीभूत प्रतीत होता है
लो ।
यहीं पर मिथ्यात्व रूपी मगरमच्छ
से भी साक्षात्कार
किन्तु उधर से आक्रमण नहीं
कटाक्ष नहीं
सघर्ष के लिए
कोई आमत्रण भी नहीं
अनत कॉटो से निष्पन्न
उसका शरीर है
कठोरता का शुद्ध परिणमन
कठोरता की परम सीमा है

परन्तु मृदुता से विरोध नहीं करता
विरोध में बोध कहाँ ?
विरोध तो अज्ञान का प्रतीक

अन्धकार
ओ !
नयन गवाक्षो से
फूटती हुई
अबाधित ज्योति किरण
मेरी ओर चॉदी की पतली धार सी
आ रही है

सानन्द आसीन है
सत्तागत अनन्तानुबंधी सर्प
कदर्प दर्प से पूरा भरा है
ज्ञान ज्ञेय का सहज सबंध हुआ
शुद्ध सुधा
और विष का सगम हुआ

यह ज्ञान के लिए अपूर्व अवसर है
ज्ञान न तो दुखित हुआ
न सुखित हुआ
किन्तु यह सहज
विदित हुआ कि
ध्यान ध्येय सबध से भी
ज्ञेय ज्ञायक संबंध
महत्वपूर्ण है
पूर्ण है/सहज है
कोई तनाव नहीं

इसमे केवल स्वभाव है
भावित भाव!
ध्येय एक होता है
जब ध्यान में ध्येय उतरता है
तब ज्ञान ससीम सकीर्ण होता है

सकुचित ज्ञान
अनत का मुख छू नहीं सकता
अत· ज्ञान प्रवाहित होता हुआ
अनाहत बहता हुआ
जा रहा है
सहज अपनी स्वाभाविक गति से
अद्‌भुत है!

अननुभूत है!
विकार नहीं
निर्विकार
तप्त नहीं
क्लान्त नहीं
तृप्त है
शान्त है
जिसमे नहीं ध्वान्त है
जीवित है
जाग्रत भी नितान्त है
अपने में विश्रान्त है

यह विभूति
अविकल अनुभूति
ऐसे ज्ञान की शुद्ध परिणति का ही
यह परिपाक है

कि उपयोग का द्वितीय पहलु
दर्शन अपने चमत्कार से परिचित कराता
अब भेद पतझड होता जा रहा है
अभेद की वसत क्रीडा प्रारभ
द्वैत के स्थान पर
अद्वैत उग आया है
विकल्प मिटा
आर पार हुआ
तदाकार हुआ
निराकार हुआ
वह मैं ।
मैं मैं सब
प्रकाश मे प्रकाश का अवतरण
विकाश मे विनाश उत्सर्गित होता हुआ
सम्मिलित होता हुआ
सत साकार हो उठा
आकार मे निराकार हो उठा
इस प्रकार
उपयोग की लम्बी यात्रा
मत् त्वत् और तत् को
चीरती हुई
पार करती हुई
आज ।
सत् में विश्रान्त है
पूर्ण काम है
अभिराम है

हम नहीं
तुम नहीं
यह नहीं
वह नहीं
मैं नहीं
तू नहीं

सब घटा
सब पिटा
सब मिटा

केवल उपस्थित।
सत् सत् सत् सत्
है है है है ।

□□□

स्थित प्रज्ञा

चेतना के भीतरी मध्यभाग मे
परम विशुद्ध/सहज
तीन रेखायें
समग्र आत्मप्रदेशों को
अपने प्रभाव से
प्रभावित करती हुई
आपकी कायागत
बाहरी ग्रीवा की शोभा वैभव मे
और मंजुता की छटा उत्कीरती

विस्तृत फैलाती
सम्यक् दृष्टि
स्थित प्रज्ञा
विरागता के परिवेश में
प्रतिछवि सी
आपके कण्ठ प्रदेश पर
केन्द्रीभूत हो
जगमग जगमग जगी हैं ।
फलस्वरूप
आपके कण्ठ को देख
अपने कण्ठ से तुलना कर
स्वयं को अतुल अमूल्य
समझने वाला
दिव्य शख भी

स्वयं को निर्मूल्य/नगण्य
समझकर
लज्जातिरेक से
लज्जित हो
विकल हो
सर्वप्रथम चिता मे डूब गया
दिन प्रतिदिन
वह
उस चिंता के कारण
सफेद हुआ
और अन्त मे
ऐसा विचार करता है
कि
ससार को मुख दिखाना
कैसा उचित होगा अब
मध्य रात्रि में उठकर
अपार जलराशि मे जाकर
डूब गया ।
अन्यथा
सागर मे उसका
अस्तित्व क्यो?
हे भगवन्‌!!

□□□

अधरों पर (अभिव्यक्ति)

केवल अनुमान नहीं है
यह पूर्ण स्पष्ट है
प्रत्यक्ष प्रमाण है
कि
अक्षय अव्यय
आनन्द का अपार/अपरम्पार
सुधा सागर
अनन्त विध गुणो
उन परिणमनो की
अपरिमित लहरो से
लहरा रहा है निरन्तर ।
आपके
विशाल पृथुल अगाध
उदर के अन्दर ।

अन्यथा

मूँगे की मजु अरुणिमा भी

स्वय

जिनके आश्रम में

प्रतिदिन पानी भर कर

अपने को कृतार्थ मानती है

ऐसे आपके

लाल लाल

विमल निहाल

अधरों के अग्रभाग पर

हाव भाव सहित

सोल्लास

मंद स्मित नर्तकी

नर्तन क्यो कर रही है?

हे ! विभो !

□□□

अर्पण

शशिकला के
मृदुल कल करो का
प्रेम क्षेम
परम प्यार
पाकर
विलासिता का
विकासता का
सरस पान करती
शशिकला की सितता को
अपनी कोमल छवि से
जयशीला
कुमुदिनी
औ
प्रखर प्रचण्ड
प्रभाकर कर–नखघात से
खुलकर/खिलकर दिनभर
विहसनशीला
अनुपमलीला
विकरणशीला
कमलिनी भी
अकुलाती

जीवन से हाथ धोकर
रूप लावण्य खोकर
दृष्टि अगोचर
होकर
मिट्टी मे मिल जाती
हेमन्तीय
हिमालय का
हिममय चूडा !
छूकर उतरा
हिम मिश्रित
समीर स्पर्श
पाकर ।
किन्तु
यह कैसी !
अद्‌भुत घटना
विरोधाभास?
कि बाहर भीतर
शीतल
होता जा रहा हूँ
हे शीतल !
शीतलता की तुलना
किस विध करूँ?
किस शीतलता के साथ?
ऐसा शीतल पदार्थ नहीं
धरती तल पर

जब से आप
निष्पाप निस्ताप
कृपाकर ।
कर कृपा
मुझ पर ।
मम मानस पद्मिनी पर
जो थी
चिरकाल से
कुड्मलित
निमीलित
उदासीन
हुए हैं
आसीन
तब से
होती जा रही वह
विकसित
विलसित
विहसित
अन्तहीन
अनन्त काल के लिए
और
वैसे आपका शैत्य
अगम्य अकथ्य ।
यह पूर्ण सत्य है
तथ्य है

किसविध
शब्दों से कर सकूँ?
अकथ्य का कथन
मथन
क्योकि
शीतलधाम/ललाम
शीताशु
सुधा का आकर भी
तरुण अरुण की किरणो से
तप–तप कर
सुधा विहीन
होता हुआ दीन
शीतोपचारार्थ
अमा औ प्रतिपदा की
घनी निशा मे आकर
आपके तापहारक
शान्ति प्रदायक
पाद प्रान्त मे
शात छाँव मे
पड़ा रहता है
अन्यथा
उन दिनो
नभ मण्डल में
वह दिखता क्यो नहीं?
हे अविनश्वर!
सघन ज्ञान के
ईश्वर !

□□□

लाघव भाव

जिनके जीवन मे
निरन्तर अनुस्यूत
बहती रहती
मानानुभूति
ज्ञान की
आपको
अपना ज्ञान
विज्ञान
प्रमाण
दर्शित / प्रदर्शित कर
अपमानित करने का
लाघव भाव
विभाव
वैभाविक मन मे
भावित कर
आपके सम्मुख
उद्ग्रीव मुख
विनय विमुख
फूल समान
नासा फुलाते
पहली बार
खडे हैं
अपने ध्रुव पर
अडे हैं
भावी गौतम।
इन्द्रभूति॥
मोहातीत
मायातीत
औ अपूर्ण ज्ञान से
सुदूर / अतीत हो
तुहिन कण की उजल आभा
सी
स्फटिक शुद्ध पारदर्शिनी
स्व पर प्रकाशिनी
सकलावभासिनी
परम चेतना रूपी
जननी के
पावन पुनीत
परम पद प्रद
पदपद्मो में
अपनी कृतज्ञता का भाव
व्यक्त
अभिव्यक्त करते हुए

विनत मन
प्रणत तन
नत नयन
अग अग औ उपांग
नमित करते
अमित अमिट
अतुल / विपुल
विमल / परिमल
गुण गण कमलो का
अर्घ अर्पित
समर्पित करते
आपको निरखते हैं
उस तरङ
जिस तरह
हरित भरित
पल्लव पत्रो
फूले फूलो
फलो दलों से
लदा हुआ
मस्तक झुकाता
अपनी जननी
वसुधरा के
चरणो में
विनीत
वह पादप ।

प्रतिफल यह हुआ
कि
उनके मानस सरोवर में
कल्पनातीत
आशातीत
विकल्पों की
तरल तरगमाला
पल भर बस
परवश
तरगायित हो
उसी मे उत्सर्गित
तिरोहित
इस निर्णय के साथ
हार रे!
अब तक
मेरा निर्णय, निश्चय
निश्चय से
सत्य तथ्य से
अछूता रहा
नश्वर असत्य
सारहीन को
छूने
दीन बना है
भ्रमित मन
छटपटा रहा है
मम आत्मा मान से

सन्तुष्ट
वह आत्मा प्रमाण से सम्पुष्ट
मैं परिधि पर भटक रहा
अटका रहा
मेरा मन
विषयो के रस में
चटक मटक कर रहा
यह केन्द्र मे सुधारस
गटक रहा
मैं उलटा लटक रहा
यह सुलटा
अनन्य दुर्लभ
सुख सम्वेदनशील
घटना का घटक रहा
मैं विभाव भाव दूषित
यह स्वभाव भाव भूषित
मैं परावलम्बित
पराभूत
यह स्वावलम्बित
अभिभूत
पूत ।
इसके इस
तुलनात्मक दृष्किोण ने
मौन का विमोचन कर

अपने अग अग को
सामयिक
आदेश इगन से
इगित किया
कि हो जाओ
जागृत ! सावधान!
अपने कर्तव्य के प्रति
प्रतिपल !
लोचन युगल
एक गहरी नती की अनुभूति मे
लीन हो डुबकी लगाने लगा
कर कमल
प्रभु के चरणो मे
समर्पित होने
उद्यत आतुर
जुड गये
घुटने धरती पर
टिक गई
पजो का सहारा
एडी पर पीठ
आसीन
और
भूली फूली
नासिका

प्रायश्चित मॉगती
धरती पर रगडने लगी
अपनी अनी!
उत्तमाग
चिर समार्जित
मान का विसर्जन करने
कृतसकल्प
प्रणत !
अनन्त काल के लिए
हे अनन्त के पार उडने वाले !
अनन्त सन्त !!

प्रतीक्षा में

सप्तम पृथ्वी का
रवरव नरक
रसातल से भी नीचे
निगोद के तलातल
पाताल से निकला हुआ
किसी कर्मवश
ऊर्ध्वगम्यमान
दुर्लभतम
जगमवान हुआ
सुकृत योग
शुभोपयोग
संयमवान हुआ।
यह यात्री
यात्रातीत होने
भवभीत हो/विनीत हो
एक अदम्य जिज्ञासा के साथ
आप से, धर्मामृत पान करने की
प्रतीक्षा मे
उस तरह
जिस तरह
अपने पुरुषार्थ के बल पर
क्षार सागर के

अगम/अगाध तल से
ऊपर उठकर
सागर जल के
अग्रभाग पर
आकर।
अपने को कृतार्थ बनाने
यथार्थ बनाने
सुचिर काल
क्षार जल के सेवन से
फटा हुआ मुँदा हुआ
मुख खोलकर
वर्षाकालीन
नभ मण्डल मे
जल से लबालब भरे
विचरते/सहज डोलते
सभी जलद दलो की,
अपेक्षा नहीं करती
केवल।
स्वाति नक्षत्रीय।
मेघमाला से
मौन। किन्तु
भावविभोर हो
प्रार्थना करती

अपनी कारुणिक ऑखो से
पूजा करती
मौलिक मौक्तिक मणियो मे
ढलने की प्रकृति वाले
अमृतमय शान्त शीतल
उज्ज्वल जलकणो की
प्रतीक्षा मे
वह शुक्तिका ।

□□□

अमन

है! जितकाम
ललाम
आपने ऐसा
कौन सा किया है काम
कि
काम का तमाम काम
हो बेकाम
आगामी सीमातीत काल तक
अनुभव करता रहेगा
विराम का
विदित होता है कि
युक्ति से काम लिया है आपने
शक्ति से नहीं
एक पथ दो काज !
इस सूक्ति का निर्माण किया है
यथार्थ मे
आपने
चिरकालीन चचल मन की सत्ता
को।
जो है
पर से प्रभावित चेतना का ही
एक विकृत परिणाम
दुखधाम
और मनोज का
अधिकरण
उद्‌गम स्थान

अधिष्ठान
हे! आप्त
समाप्त किया है ।
आपकी दृष्टि
मूल पर रही
चूल पर नहीं
कारण के नाश मे
कार्य का
विकास / विलास
सभव नहीं असम्भव!
कारण के सहवास मे
कार्य का
वह विनाश भी
असभव ।
यह व्याप्ति है
औ आपका न्याय सिद्धान्त
हे शभव ।
इसीलिए आपका सदेश है
आदेश है
कि
दूर रहो
हे भद्रभव्यो ।
मन से
मनोज से
एवं
मनोज के बाण
सुमन से
फिर बनो
अमन ।

□□□

वहीं वहीं कितनी बार

हे अभय !
दान विधान विधाता
दयानिधान
करुणावान

श्रीपाद प्रान्त मे
कुछ याचना करने
याचक बन कर !
गायक रूप मे
आया था

चाहता था कुछ स्वच्छ साफ धोना
बाहर से होना
सुन्दर सलोना
किन्तु

यह आपकी सहज
समता कृति
आकृति
इस विषय का परिचायक है
कि

इच्छा याचना
दीन हीन
दयनीय भाव से
परोन्मुखी हो
पर सम्मुख
हाथ पसारना
आत्मा की सस्कृति
प्रकृति नहीं है
विभाव सस्कारित
विकृति है
पल पल मिटती
पलायु वाली
परिणति है
लो । यह भी अज्ञात ज्ञात हो
कण कण से मिलन हुआ
अणु अणु का छुवन हुआ

पुनि पुनि बिछुडन
छुडन हुआ
विभ्रम से भ्रमित हो
लक्ष्यहीन अन्तहीन
उसी ओर मुडन हुआ
भव भव मे भ्रमण हुआ

पुन पुन वहीं वहीं
गमनागमन हुआ

महाकाल का प्रभाव
दाव
बाहर से दवाब
भीतर भावुक भाव
काल का अनुगमन हुआ !

यह मात्र
वर्तन/परिवर्तन
परिणमन हुआ !

हो रहा होगा
त्रैकालिक
वैभाविक
या स्वाभाविक
यह आन्तरिक
चरण चरण।
सचरण !
जिसका उपादान
साधकतम, बाधकतम
जो भी हो
स्वायत्त पुरुषत्व
कारण रहा
अधिकरण रहा

काल नहीं
काल की चाल नहीं
उदासीन
भाल पर लिखित
दैव का भी सवाल नहीं
किन्तु

चिरन्तन घटना में
कुछ भी घटन नहीं
कुछ भी बढन नहीं
हुआ हनन नहीं
अंश अश सही
रहा कण कण वही
और रहा वहीं
और रहा वहीं

मेरा पर मे
पर का मुझ मे
गात्र आभास
मिश्रण सा
किन्तु
कहॉ हुआ सक्रमण

सकर दोषातीत
ध्रुव पिण्ड रहा यह !
अब क्या होना
होना ही अमर रहा
होना ही समर रहा
समर रहा !
होना ही उमर अहा!

चैतन्य सत्ता के
मणिमय आसन पर
आसीन पुरुष का
होना ही !
छायादार छतर रहा
सुगध वाहक चमर रहा

औ अधिगत हुआ
अवगत हुआ
कि यह दान का
विधि विधान
बाहरी घटना है
औपचारिकी
कर्मजा।
अन्तर घटना नहीं
क्योंकि
परस्पर आपस मे
अपादान का
आदान प्रदान
नहीं होता
उसका केवल होता
अपने मे ही
आप रूप से
आविर्माण
हे कृतकृत्य
उपकृत हुआ
एक अननुभूत
पूत सम्वेदनामय
निराकार आकार मे
जाग्रत होकर
आकृत हुआ
धन्य ।

डूबा मन रसना में

अरी रसना !
कितनी लम्बी स्थिति है तेरी
मरी नहीं तू अभी
मेरी उपासना
मुझे स्वय करना

किन्तु
मेरी शक्ति क्षमता
मेरे पास ना !
मेरे वश ना !
वासना की वसना
जो दृष्टि अगोचर/अगम्य
ओढ रक्खी है तूने ! हा!
चाहती नहीं तू
अपने मे वासना
तेरी निराली है
रचना
स्वाभाविक सा बन गया है
तेरा कार्य, पर मे
रच पचना

कभी मिठास की आस
मधुरिम मोदक चखती
श्रीखण्ड चखने सदा
उत्कण्ठिता
कठ फुलाती
सतुष्टा तृप्ता कदा
क्या होती मुधा?

कभी कभी
सुर सुर करती दिखती
चरपरा
चाट चाटती
तत्परा परा

निरे निरे औ
नये नये नित
व्यजन स्वाद विलीना
स्व पर बोध विहीना
राग रागिनी वीणा

उधर
उदारमना
उदर को भी
उपेक्षित करती
उदास करती अपनी पूर्ति मे
अपनी स्फूर्ति मे
नित निरत रहती
किन्तु

तेरी क्षुधा कभी मिटती भी
क्या नहीं ?

ब्रह्माण्डीय रस राशियाँ
तेरी अनीकी भीतरी शरण मे
समाहित हुई है जा जा
आज तक
अगाध गहराई है वह
हे ब्रह्माण्ड व्यापिनी
अनतिनी
महातापिनी
महापापिनी

जब तक तेरा पुण्य का
बीता नहीं करार
तब तक तुझको माफ है
चाहे गुनाह करो हजार।
इस सूक्ति की स्मृति भर
मन मे रखकर
पुरुषार्थ क्षेत्र मे
निशिदिन तत्पर
हूँ मैं इधर

मत गिन
वे दिन
अब दूर नहीं
सरपट भाग रहा है
काल
झटपट जाग रहा है
पुरुषार्थ का फल
भाग्य का विशाल
भाल।

प्रभातीय लालिमा सा
ललित लोहित लाल
उदीयमान
सुखद भानु बाल
लो भगवत्पाद मूल
मिला भावना का फल

तत्काल
साधना के सम्मुख
नाच नाचता
काल
चलता साधक के अनुकूल
धीमी धीमी चाल

और ज्ञात हुआ
अज्ञात विषय
कि रसना
पराश्रित रस चख नहीं सकती

षड्रस नवरस
ये रस नहीं
नयना-गम्य अदृश्य
रस गुण की विकृतियाँ
क्षणिका जड़ की कृतियाँ
आत्मा अरस रहा
रसातीत
सरस रसिया
निज रस लसिया
निज घर वसिया

निश्चय से
और रसीली रसना
नहीं मरती
अमरावती
अजरा अमरा
लीलावती

तभी वह
सर्वप्रथम
भक्ति भाव से भीगी
भक्ति रस गुणगान
अनुपान
करती करती कब
अनजान

यह रसना
समरस सिंचित
सौम्य सुगंधित
पराग रंजित
प्रभुपद-पंकज मे
तात्कालिक
अपनी परिणति
आकुचित कर
संकोचित कर
संक्रमित संक्रान्त
होती है

किन्तु कभी कभी
लोमानुलोम
या प्रतिलोम क्रम से
सरस !! सरस!!! सरस!
परम स्वातम रस
अरस आतम से
वार्ता करती बस !

जिससे संचारित है
संचालित
आत्मा के वे, नस नस !!
संयत सहज
शान्त सुधा रस
पीती जाती
पीती जाती

अपनी ऑखे
निमीलित कर
कर वाचा गौण
मौन
भावातीत
स्फीत उदीत
समीत समवेदना में
डूबी जाती
अनत अन्तिम छोर
की ओर
डूबी जाती डूबी जाती

विषयासक्त
कामुक भावों से उद्भूत
अभिभूत
आधियाँ
पूर्वकृत विकृत
कर्मोदय सपादित
महा व्याधियॉ
और
भौतिक/लौकिक/बौद्धिक
पर सबधित
बाहरी भीतरी
उपाधियॉ
अनपेक्षित कर।
सकल्प विकल्पो
नाना जल्पो
नहीं छूती
रह अछूती
निर्विकल्प
समाधि नि सृत
रसास्वाद से
स्वादित
अयि । रसना
अमित अनागत काल तक
मेरी बनी रहे
शरणा।

दीन नयन ना

निश्चल
निश्छल
सवेदनशील
समता छलकती
लोचनो मे
धवलिमा मिश्रित
गुलाब फूल की
हलकी लालिमा सी भी
तरल रेखा
नहीं नहीं
कभी न खिचे
निन्दोपजीवी
मतिहीन/दीन
विषयो कषायों मे
सतत सल्लीन
मानव मुख से
अश्राव्य निन्द्य वचन
सुनकर
हे करुणाकर !
गुणगण आकर !

□□□

राजसी स्पर्शा

ओ री स्पर्शा !
तेरा वेदन
सम्वेदन
क्या सो गया है ?
क्या खो गया है?
आज तुझे
हो क्या गया है ?

तू वृत्तिवाली राजसी
उल्लास हास की आली
रसीली मतवाली
विलासिता राजसी
अनुभव करने वाली

आज विराज रही
एक कोने मे
नाराज सी
विश्व उपेक्षिता
सहज समाधिलीन
मुनि महाराज सी
विषय-विमुखा

विरागिनी विपरीता
रीता
अवनीता
स्वय को किया है
अनुपम उत्तम
भाव मालाओ से
गिरि उन्नीता
नीता
विलोकिनी
हल्की सी
गभीरा भय भीता
भव से है ?
क्या मुझसे है ?
किससे है?
ऐसी समपृच्छना वाली
उससे पूर्व ही
अश्रुतपूर्वा
अपूर्व ध्वनि
तरग क्रम से
ध्वनित/निनादित हुई
आतम के गूढ निगूढतम प्रान्त में
किन्तु
अनुभूत हुआ कि
वह मौन
और गहन गहनतम

होता जा रहा है
यथार्थ में
वह ध्वनि नहीं है
औ किसी परिचित से
प्रेषित/संप्रेषित
संप्रेषण शक्ति भी नहीं है
बहिर्जगत का सबंध
टूट जाने से
पदार्थ का ही सहज परिणमन
निरन्तर जो हो रहा है

केवल अनधिगत का
अधिगमन हुआ
कर्कश कठोरता से
मखमल कोमलता से

लघुता से क्या ?
गुरुता से क्या?

स्निग्ध स्नहिल
रूक्ष रेतिल
रे तिल ।

चदन चन्दर शीतल क्या ?
धू धू करती ज्वाला से क्या?
कुन्दन कुकुम से क्या?
दल दल पकिल से क्या?

मैं स्पर्शा
स्पर्शातीता तर्षातीता
हर्षातीता हो
अलिंग गहण
लिंगातीत
गाढालिंगित होकर भी
स्पर्शतीता हूँ !

यह भाव जब ध्वनित हुआ
तब विदित हुआ कि
मैं भी अस्पर्श हूँ
अब किसको छू सकता
कैसा कौन मुझे
छू सकता

तू ही फूल बन जा
तू ही शूल बन जा
तेरी छुवन से
भीतरी चुभन से
मेरे प्रतिप्रदेश
स्पर्शित हो
हर्षित हों
ओ री स्पर्शा ॥

□□□

श्राव्य से परे

धनी जनो
धी धनो
औ
तपोधनो
के मुख से
अपनी प्रशसा के
सरस श्राव्य श्रुतिमधुर
गीत सुन
ह्रदय मे
गद्‌गद हो
कभी भूल
स्वप्न मे भी
कठपुतली-सा
नर्तक बन
करे न नर्तन
टुन टुन टुन टुन
यह मेरा
सयमित
नियत्रित
समाधितंत्रित
भावित मन
हे। अमन।
हे। चमन।

□□□

ओ नासा

चॉदी की चूरणी छिडकी
चॉदनी की रात है

चिदानन्द गध से
घम घम गधित
सौम्य सुगधित
उपवन की बात है

जिसमे
सहज सुखासीन
निज मे लीन
यथाजात
जिसकी गात है

सुगन्ध निधि
निशिगधा
अन्य दुर्लभा
अपनी सुरभि से
वातावरण के कण कण को
सुवासित सुरभित करती
निवेदन करती
आज विलम्ब हुआ
अपराध क्षम्य हो ।
ओ री नासा।

नैवेद्य प्रस्तुत है
पारिजात स्तुत है
स्वीकृत हो !
अनुगृहीत करो
उत्तर के रूप मे

बोध भरित
सम्बोधन
मौन भावो से
कुछ भाव
अभिव्यंजित हुए

माना तू गधवती है किन्तु
इस ज्ञान कली मे भी
सुगंधि फूटी है

फूली महक रही है
कि
तू केवल ज्ञेया भोग्या
'गधवती' है
'गधमती' नहीं

मै स्वय गधमती
तू बोध विहीना
क्षणिका
नहीं जानती
सुखमय जीवन जीना
पुरुष के साथ ऐक्य होकर
सुरभिका
दुरभिका

सृजन कहाँ होता है
स्रोत किस निगूढ में है
इसका स्रजक/जनक
कौन है वह ?

मौन कार्यरत है
वही ज्ञातव्य है
यही प्राप्तव्य है

इसीलिए
मौन वेषिका
बन गवेषिका
अनिमेषिका
अज्ञात पुरुष की गवेषणा को
सफलता की पूरी आशा ही
नहीं
अपितु पूर्ण विश्वस्त हो
हुई हूँ उद्यमशीला मैं

इसी बीच !
दाहिनी ओर से
लचक चाल की
मदन मोहिनी
रति सी
मृदुल मालती

मुख खोल
कुछ बोल बोलती
अधर डोलती
कि

नामानुसार काम
कर रही है आज ।
इच्छा वाछा तृष्णा
आशा की छाया तक
नहीं तेरी नासा की अनी पर
विराग की साक्षात् प्रतिमा सी

ओ नासा!
मतकर मुझे
निराश उदास
तनिक सा पल भर
कपाट खोल
मृदु बोल बोल

परम पुरुष महादेव को
तृप्त परितृप्त करूँ
यह दुर्लभ सुरभि
श्रद्धा समेत
लाई हूँ

ये कई बार
विगत मे
मेरी सुगध सुरभि मे
स्नपित स्नात हुए है
शान्त हुए हैं

नितान्त! प्रभु!
सक्षेप समास में
साकेतिक ध्वनि
ध्वनित हुई

वे अन्तर्धान हैं
निर्ध्यान हैं
मौन निगूढ मे
तेरी ही क्या मेरी भी
अब उन्हे रही नहीं अपेक्षा
विश्व उपेक्षा ही अपेक्षित
निरालम्ब स्वावलम्ब
शून्याकाश
प्रकाशपुज

जिस अनुभव के धरातल पर
प्रतिपल
फलित हो रहा है
बहना बहना बहना
वह ना वह ना
वह ना

नव नवीन नित नूतन होकर भी
तुलना अन्तर
विशेष नहीं
सहज सामान्य
शेष

भेद नहीं अभेद
वेद नहीं अवेद
खण्ड नहीं/द्वैत नहीं
अखण्ड अद्वैत

अविभाज्य स्वराज्य
चल रहा है स्वय
किसी इतर चालक से
चालित नहीं

गध गध गध ।
केवल गध ।
सुगध कहना भी
अभिशाप है
पाप है अब

अनुतापित करना है
स्वय को वृथा
सज्ञा बन कर
सूँघना नहीं
मूर्छित ऊँघना नहीं

प्रज्ञा बनकर
सूँघना ही
वरदान ।

मतिमती
मैं नासिका
ध्रुव गुण की
उपासिका
प्रकाश की छया
प्रकाशिका

न दुर्गंध से
न सुगध से
प्रभाविता
भाविता

गध से ।
गधवती
गधमती
गधातीता
बधातीता
मेरा भोक्ता
गध से परे
अगध पुरुष ।

मैं भोग्या योग्या
कामपुरुष की
आई हूँ
आशातीता
मै नासा

चरणो मे
मात्र मिले बस।
चिरवासा
सहवासा ।

□□□

सब में वही मैं

अनुचरो
सहचरो
औ
अग्रेचरों
के विकासोन्मुखी
विविध गुणो की
सुरभि सुगधि की
जो अपनी धीमी गति से
सुगधित करती
वातावरण को
फैल रही
उपहासिका
नहीं बने
किन्तु
सुगधि को
सूँघती हुई
पूर्ण रूपेण
सादर/सविनय
अपने चारो ओर
बिखरे हुए
घिरे हुए
कॉटो को भी
खुल खिल हॅसने
जगने

मृदुतम बनने की
प्रेरणा देती हुई
सकल दलो सहित
उत्फुल्ल फूलो सी
फूला न समाये
यह मम नासिका
बने ध्रुव गुण उपासिका
ऐसी दो आसिका
गुणावभासिका
हे अविकल्पी
अमूर्त शिल्प के शिल्पी।

हुआ है जागरण

स्पर्श की स्थूल परिणति से
स्थिति से
औ इति से भी
बहुत दूर
ऊपर उठे
सूक्ष्मता मे अवतरण
समावतरण
अपरिचित के परिचय का
अर्घावतरण
मौन एकान्त
विजन मे
जाति जरा मरण
आवरण
करते है
निरावरण का अनावरण का
वरण
अनुसरण
स्वय बन कर
शरण
आवरण की शरण का
अपहरण ।

अकाय!
असहाय!
इस काय की छुवन मे
अब नहीं आ सकते

मत आओ
कौन कहता कि आओ?
फिर भी कहाँ बसोगे?
कहाँ लसोगे?
अपने लावण्य लेकर
इसी भुवन मे ना !

आनदित
अभिनदित
स्वतन्त्र स्वाश्रित
सौम्य सुगन्धित
चन्दन वन मे
नन्दन वन मे ना !

हे निरावरण!
हे अनावरण!
दुख निवारण कर दो

अकारण
इसने सावरण का
कर लिया है वरण

भूल से
उतावली के कारण
अनन्तकाल से
सहता आया
जनन जरा मरण

किन्तु अब सुकृत
हुआ है जागरण करके एकीकरण
त्रिकरण

कर रहा मात्र
आपके नामोच्चरण
होने तुम सा

निरा। निरामय
नीराग
निरावरण।

डुबो मत लगाओ डुबकी

अमृताक्षर

अनुभूति की अनन्त धरती पर, जो घटना घटित हुई, उसे आकार - प्रकार मिला, रूप मिला, मूर्तशब्दों का। नाम-करण हुआ 'डूबो मत लगाओ डुबकी' यह रचना आमूल - चूल, परम शान्त रस से सिंचित है, संपोषित हैं स्वयं ऊर्ध्वमुखी बनाने में साधक - तम ही नहीं, आधारशिला भी है।

यह सृजन सहज हुआ है। इसमें श्रमण ने परिश्रम का अनुभव नहीं किया। इसका सर्जक न तो काव्यशास्त्री है, न अमा की रात्री; वह मात्र ऊर्ध्वमुखी यात्री है। कर-पात्री है। और इस सृजन का उपादान सहजशुद्ध चैतन्य की उपासना है।

सारभूत वस्तु को प्रकाशित करने, इसमें चमक है। निस्सारता को निष्कासित करने, इसमें दमक है। और मुमुक्षुसाधक के श्वास-श्वास के तारों में सरगम भरने, यह स्वय गमक है। इसमें प्रदर्शन और दिग्दर्शन की गन्ध नहीं है, किन्तु तलस्पर्शी आत्मदर्शन की गन्ध महक रही है।

जहाँ तक कविता की बात है, वह सवेदनशील कवि - मानस में झिलमिलाती उठती हुई सजीव भाव - तरग है। उसका कोई रग है न अग। कविता की कोई भाषा - परिभाषा तो होती नही। हाँ, उसकी अभिव्यक्ति हेतु भाषा का आलम्बन अनिवार्य होता है। यथार्थ में कविता का सृजन अन्तर्जगत् की गहराई में ही होता है।

किन्तु यदि कवि की काव्ययात्रा का सूत्रपात शब्दों से होता हो, और उपसंहार विषयानुरजन में; तो वह निश्चित ही स्वानुभव से एवं समरस सिंचित, चिदानन्द से वचित है। शब्दानुगामिनी कविता में अननुभूत - जीवन, अनुभूत नही होता। उसके पठन से मन भले ही परितृप्ति का अनुभव करे, परन्तु चेतना की प्यास नहीं बुझती। वह अभिभूत नहीं होती। ऐसी स्थिति में 'जहाँ न जाता रवि, वहाँ जाता कवि' यह लोकोक्ति भी अपूर्ण और औपचारिक ही सिद्ध होती है। इसमें मौलिकता और परिपूर्णता लाने 'जहाँ न जाता कवि, वहाँ जाता स्वानुभवी' इस कड़ी की अनिवार्यता है।

एतावता इस वक्तव्य का यही मन्तव्य है, कि सविता एवं कविता से बढ़कर स्वानुभाविता ही मौलिक है, स्वभाव है। विकासोन्मुखी जीवन का यही उपादान है, यही उपादेय भी। यही परम ध्येय है, यही परम ज्ञेय भी। इसलिए मुमुक्षु पाठकों से निवेदन है कि उन्हें प्रस्तुत रचना मे नही रचना है, परन्तु इस से परिसूचित भाव गाभीर्य में रचना है। अवगाहित होना है। फलस्वरूप विषयराग की 'ऊब' हाथ लगेगी और वीतराग की 'डूब' साथ चलेगी, आगामी अनन्तकाल तक धन्य।

यह सब स्व. वयोवृद्ध - तपोवृद्ध एव ज्ञानवृद्ध आचार्य गुरुवर श्री ज्ञानसागरजी महाराज के प्रसाद का परिपाक है। परोक्ष रूप से उन्ही के अभय चिन्ह - चिन्हित युगल कर - कमलों में 'डूबो मत लगाओ डुबकी' का समर्पण करता हुआ।

हिरण नदी का तीर
कुण्डलगिरि की छाँव।

गुरुचरणारविन्द चचरीक
ॐ शुद्धात्मने नमः
ॐ निरंजनाय नमः
ॐ जिनाय नमः
ॐ निजाय नमः
(आचार्य श्री विद्यासागर
जी महाराज)
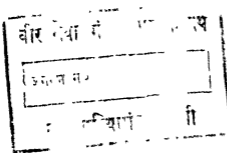
एक दृष्टि

'डूबो मत लगाओ डुबकी' आधुनिक कविताओं का एक ऐसा सकलन है, जिसमें आचार्यश्री विद्यासागर जी महाराज के सोच की प्रक्रिया की जानकारी मिलती है। उनकी ये रचनाएँ 'तोता क्यों रोता' सकलन की रचनाओं की तरह चली हैं, कहीं सहज, कहीं कठिन। कहीं रहस्य की प्रतीति, कहीं यथार्थ का चित्रण।

आचार्य श्री 'स्वानुभवी' को 'कवि' से ऊपर देखते हैं, सम्भवत: इसीलिए उन्होंने 'अमृताक्षर' के अन्तर्गत स्पष्ट किया है - 'जहाँ न जाता कवि, वहाँ जाता स्वानुभवी'। उनकी यह धारणा सही भी है। कम से कम अध्यात्म के क्षेत्र में तो इसे स्वीकारना होगा। बड़ी वस्तु यह कि वे कविता से भी अधिक मौलिकता स्वानुभविता में पाते हैं। काश, उनके अनुभव का दर्शन पाठक कर पाता! यों जो पाठक उनकी कविताओं से सरोकार प्रगाढ़ करता चला जायेगा, वह उनके अनुभव की प्रदर्शनी का सही दर्शन भी करता जायेगा। देखिये न' पृष्ठ तीन पर उनकी पंक्तियाँ - 'कब तक पय में। विष घोलेगा। कब तक चंचल ..... डोलेगा। कब तो इन पर दृग खोलेगा कब इन से सरस बोल वे ...... बोलेगा। उनकी दृष्टि तुला पर। अपनी समग्र सत्ता .... कब तौलेगा।......

इन सीधी - सादी पक्तियों को कोई ऊपर - ऊपर पढ़ ले तो जाने क्या आनन्द पा सकेगा, पर यदि कोई इनमें डुबकी लगा दे तो अर्थ का सुन्दरतम छायांकन करता चला जायेगा — दुग्ध - कुम्भ मे चुपके से जहर घोलने वाले चाहे जिस शहर मे मिल जाते हैं। वात्सल्य को गले से लगाये डोलते लोग भी मिल जाते हैं, पर जहाँ जिस बिन्दु पर शाम हो जाती है, जहाँ मृत्यु, मुक्ति का आभास होने लगता है वहाँ मात्र आत्मा ही खड़ी दिखती है, मानों सभी तरफ, सभी ओर, वही एक हो।

अर्थ की रेखाएँ बढ़ती जाती हैं, जब उक्त पंक्तियों से झकार निकलती है - 'सामान्य दिखने वाले आदमी को समझने के लिए हिए की आँख से कब निहारा जायेगा? सतुलित व्यक्ति के समक्ष अपने आत्मप्रभाव को कब और कितने अशों में कूतेगा? कब श्रेष्ठ का अनुसरण करेगा? जो श्रेष्ठ्य के साथ चलेगा वही तो अपना मानस आचरण निर्मल करेगा।'

जो, पाठक पढ़े तल्लीन होकर, अर्थ की केंचुली आपों आप उतरती चली जायेगी। पृष्ठ ग्यारह पर, पढ़ें - 'सब शास्त्रों का सार यही। समता बिन सब धूल है।' आगमों का मथन करने वाला, आचार्यश्री का मन - मस्तिष्क, स्पष्टोक्ति करता चलता है, घोषणा करता है कि जिस व्यक्ति, समाज और देश में समता का भाव नहीं है, वहाँ की प्रगति धूल से अधिक नहीं है।

'सो जाने दो' रचना (पृष्ठ 23) के माध्यम से वे 'भ्रमित चेतना' के बजाय 'सुलझी हुई मृत्यु' अधिक ठीक मानते हैं।

आचार्यश्री सूफी सन्तों की तरह श्रृंगार की भाषा लिखकर भी, वैराग्य का पुट बनाये रहते हैं। पृष्ठ 86 इस कथन को ध्वनित भी करता है - कुटिल कुटिलतम/कज्जल काले/कुन्तल बाल/भाल पर आ/बिखरे हैं/निरे निरे हो, अस्त व्यस्त।' किस लिए? वे स्वत उत्तर देते चलते हैं - ताकि समुज्वल भाव भूमि / पर। किसी की दृष्टि न पड़ जाय।

कहने का मन्तव्य यह है कि आचार्यश्री की कविता - कौमुदी का अपना एक सुख है, और सुख में सदेश है। बस पाठक की दृष्टि खोजी होनी चाहिए।

आचार्यश्री का समूचा साहित्य अध्यात्म के 'टेक' पर लिखित/शिल्पित है और जैन-दर्शन को लेकर ही स्फुरित है। उस पर जितनी चर्चा की जाय कम है। सर्वांग सुन्दर किताबें कम ही देखने में आती हैं।

हिन्दी - साहित्य के वर्तमान ससार में इस कृति का सही - सही मूल्यांकन होगा, विश्वास है।

8-10-94

सुरेश सरल
२६३ सरल कुटी, गढाफाटक
जबलपुर (म०प्र०)

अनुक्रम

भोर की ओर

कब से आ रहा हूँ
अपार सागर में
तैरता तैरता
हाथ भर आये हैं
श्लथ!
नैर्बल्य की अनूभूति
अब ओर नहीं छोर मिले !!

चारो ओर
भ्रमर तिमिर
फैला है
फैलता जा रहा है
चरण चल रहे
साथ आस्था है
साफ रास्ता है
पर
धृति कहती है
अब घोर नहीं
भोर मिले!

काश !

हे आकाश!
काश!
नहीं देता तू
इस लघुतम सत्ता को
अपने मे
अवकाश !
अपने पास !!

किस विध सम्भव था?
चिदाकाश का
अप्रत्याशित
सौम्य सुगधित
मृदुतम विलास
परम विकास !

रूप रसातीत
स्फीत प्रतीत
परम प्रकाश !
हे! महदावास
हे! आकाश!

हौले हौले

यह यथार्थ नहीं है
इसीलिए
परमार्थ भी नहीं है
आर्त है केवल
पर का आलम्बन
पर का सम्बल।

ऐसी स्थिति में
कैसे उपलब्ध हो
स्वार्थ!
यही एक परिणाम हुआ है
कि
शिर पर ले अघ मटका,
भव वन मे मन भटका
चहुँ गतियो मे अटका
मिला नहीं सुख घटका

कब तक तू जीयेगा
पराश्रित जीवन
कब तक ना पीयेगा
पीयूष पी बन
सजीवन
जीना क्या ? ना चाहेगा
चिरजीवन

कब तक पय मे
विष घोलेगा
कब तक चचल
डोलेगा

जहाँ खडी है शाम
वहीं खडे निजशाम।
विगतकाम घनशाम

कब तो इन पर
दृग खोलेगा?
कब इन से सरस बोल वे
बोलेगा ?
उनकी दृष्टि तुला पर
अपनी समग्र सत्ता
कब तौलेगा
कब तो उन के
पीछे पीछे
हौले हौले
हो लेगा ।। हो लेगा।। हो लेगा।।

हो लेगा तो निश्चित है
यह अपना मल सब
धो लेगा । धो लेगा ।। धो लेगा ।।।

□□□

आगत स्वागत

समय समय पर
शून्य मे से
अनागत का अपना
निरा सन्देश
प्रचारित प्रसारित हो रहा है
गुप्त रूप से ।
कि
'ज्ञान रहे'
ऐसा कोई नहीं है
आवास । मेरे पास ।
नहीं पा सकोगे मुझ मे
अवकाश। हो विश्वास ।
    नहीं कर सकोगे मुझ मे
    पलभर भी
    वास । विलास।
    मेरा कोई विधिरूप जीवन नहीं है
    निषेध की सत्ता से निर्मित
    जीवन जीता हूँ
मेरे पैरो के नीचे
धरती नहीं है
निराधार हूँ/था,
कैसा दे सकता हूँ? निराधार हो
आधार औरों को ।

नीचे की ओर लम्बायमान
दण्डायमान
दोनो हाथ
नहीं है मेरे मस्तक पर
अवकाशदाता
आकाश का हाथ
ना है कोई साथ
मैं अनाथ ।

चारो ओर निरालम्ब
सब अनाथ
सनाथ बनते है
मेरी उपेक्षा करने से
अनाथ बनते है
अपेक्षा करने से
मेरा दर्शन किसी को होता नहीं
होता भी हो तो
व्यवहार । उपचार ।

दिव्य ज्ञानी को भी
मेरा साक्षात्कार नहीं
मैं एक अथाह गर्त हूँ
मुझ मे भरा है केवल
अभावात्मक आर्त ही आर्त

पिपासा बुझाने
जिस मे
आशा झॉकती है
बार। बार।।

खाली हाथ लौटती
निराश हुई आशा की पीठ
अनिमेष निहारता रहता हूँ
यही मेरी विशेषता है
मैं अनागत, नहीं तथागत।

और विगत की घटना
मौन
किन्तु
तुझे इगित कर रही है
अपने इंगनों से
अरे । मन।
उसकी चपेट मे आकर
मत पिटना
अमित बल को खोकर
अनेक भागो मे
मत बँटना।

सवेदन से शून्य है वह
भाव की परिणति
अभाव मे परिवर्तित
वह अपना
बन चुका है सपना
असभव बन चुका है
अनुभव से
उसका नपना।

सभव है केवल
अब उसका
शब्दो से जपना।

जिस जपन की वेला मे
अनुभूति का स्रोत
ढक जाता है सहज
अघ के कणो से
अवचेतन के रजोगुणो से
और यही हुआ है
भवो भवो से
युगो युगो से

अरे ! मन
विगत की घटना से
पल भर तो
हट! ना हट ना!! हट ना !!!

विगत मे
समता रस से आपूरित
क्लान्ति निवारक
शान्ति प्रदायक
ओ 'घट' ना! ओ घट' ना ! ! ओ 'घट' ना !!!
अरे मन
भूल जा
ओ घटना ! ओ घटना !! ओ घटना !!!

इसीलिए हो जा
अरे मन !
विगत से अनागत से
पूर्ण रूप उपराम !

अन्यथा और कहीं खोजा
सत् चित् आनन्द धाम
यदि अनुभूत होगा
तो वह है निश्चित
एक ललित ललाम
पूर्ण काम ।
विरत काम ।
आगत । आगत ।। आगत ।।।

यही है मुख्य अतिथि
महा अभ्यागत ।
सदा जागृत
चिर से अब तक तुझ से
अनपेक्षित है अनादृत ।

प्रतीक्षा से
भिक्षा से
शिक्षा से भी परे
अप्रमत्त ईक्षा की पकड मे
केवल आता है
आगत । आगत ।। आगत।।।
इसी का आज
स्वागत । स्वागत ।। स्वागत ।।।

□□□

खो जाने दो

अरी ! वासना
यथा नाम तथा काम है तेरा
तुझ मे सुख का
निवास वास ना !
तुझ मे गहराई है कहॉ ?
और मैं
गहराई मे उतरने का
हामी हूँ
चचल अचल मे
केवल लहराई है
तेरे आलिगन मे
मोहन इगन मे
सुख की गन्ध तक नहीं
मात्र सुख की वासना है
जो ओढ रखी है तूने
जिस मे सारी माया ढकी है
इसलिये इसे
अपनी उपासना मे
अनन्त सत्ता मे
खो जाने दो
ओ ! वासना !

□□□

आँखों में धूल

ज्ञान ही दुख का
मूल है,
ज्ञान ही भव का
कूल है।
राग सहित सो
प्रतिकूल है,
राग रहित सो
अनुकूल है।
चुन चुन इन मे
समुचित तू
मत चुन अनुचित
भूल है ।
सब शास्त्रो का
सार यही
समता बिन सब
धूल है।

मेरा सहचर मैं

हे अपरिमेय!
अजेय सत्ता !
इस
नादान असुमान को
ऐसी शक्ति प्रदान कर दो
इस मे
ज्ञान विज्ञान
प्रमाण भर दो
जागृत प्राण कर दो

लोकालोक
दिव्यालोक
विगतागत का
सभावित का
सिहावलोकन कर सकूँ
युगपत्
युगो युगो तक
कण कण के
परिचय का
अणु अणु के
अतिशय का
अनुपान कर सकूँ जी भर !

अन्यथा इसमे
ऐसा मान स्वाभिमान
आविर्माण कर दो
जिस से वह
किसी भी काल मे

किसी भी हाल में
तन से, मन से
और वचन से
पर का अनुचर
नहीं बने
निज का सहचर
सही बने, अमर बने

आगामी अनन्त काल तक
निजी मान के आस्वादन में
रहे सने! मोद घने।
ओ! अपरिमेय
अजेय सत्ता!

□□□

आया दल - दल

पृथुल नभ मण्डल मे
अकाल विप्लव धर्मी
सघन, श्यामल
बादल दल
पिघल पिघल कर
उज्ज्वल शीतल
धवलिम जल मे
बदल गया है।

इसे निरख कर
धरती दिल
हिल गया है,
मन मे विचार ।
भविष्य का विषय
गहल भाव मे ढला
भला बुरा अज्ञात
यह युग
मुझे तिरस्कृत करेगा
पद दलित करेगा
दल - दल आ गया है

प्रलय पताका

चराचरो का सकुल
चलाचलो का कुल
यह निखिल
खुल खिल
पल पल
अविरल अविकल
गल - गल
नव - नूतन
अधुनातन
आकार - प्रकारो मे
निर्विकार विकारो मे
प्रतिफलित हो रहा है
स्वय
था/होगा त्रैकालिक
जो रहा है
पर !
इस प्रतिफलन की गोपनता
मोहाकुल व्याकुल चेतन के
आचार-विचारो मे
फलित कब हुई है ?
इसीलिए तो
यह साधारण
जन-गण-मन
निर्णय कर लेता है
कि
विशाल निखिल का

आखिर !
स्रष्टा कौन होगा ?
सकल साक्षात्कार
द्रष्टा मौन होगा
वही ईश्वर अविनश्वर ना !
शेष सब गौण होगा
किन्तु यह निर्णय
सत्य रहित है
तथ्य रहित है
पूर्ण अहित है

केवल कल्पना है
केवल जल्पना है

क्योकि
चेतन से अचेतन का
उद्‌भव !
कैसा हो सम्भव!
क्या सम्भव है ?
कभी !

बोकर बीज बबूल
पाना रसाल
रसपूर
भरपूर

और क्या कारण है ?
ये ईश्वर !
किसी को बनाते नर
किसी को बनाते किन्नर
मतिवर, धीवर, वानर

जबकि वे
अदय नहीं हैं
सदय 'हृदय'
अभय निधान
हैं भगवान ।
सबको बनाते ।
एक समान
या भगवान
अपने समान

जिसका जैसा हो परिणाम
धर्म-कर्म-काम
तदनुसार ही
ये ईश्वर
इन चराचरो को
दिखाते हैं
नरक निवास
स्वर्ग विलास
नर-पशु-गति का त्रास ।

यह कहना भी
युक्ति युक्त नहीं है
कारण ।
कर्म-मात्र से काम हो रहा
ईश्वर फिर किस काम आ रहा ?

'माता-पिता तो
सन्तान के कर्ता हैं'
यह धारणा भी
नितान्त भ्रान्त है

केवल ये भी 'विभाव भाव के
काम भाव के '
कर्ता हैं
अन्यथा कभी कभी
कुछेक
सन्तानहीन क्यो ?
वन्ध्या
रोती क्यो ?
त्रिसन्ध्या?

सही बात यह है
कि,
जननी जनकज
रज-वीरज के
मिश्रण-निर्मित
नूतन तन तब धरता है
आयु पूर्ण कर
जीरण शीरण
पूरव तन जब तजता है
निज कृत विधि - फल
पाता प्राणी
अज्ञानी ।

यथार्थ मे
प्रति पदार्थ मे
सृजन शीलता
द्रवण - शीलता

परनिरपेक्ष
शक्ति - निहित है
जिसके अवबोधन मे
हित निहित है

इसीलिए
विगत भाव का
विनाश वाला
सुगत - भाव का
प्रकाश वाला
सतत शाश्वत
ध्रौव्य भाव का
विलासशाला
सत् है ।

चेतन हो या अचेतन
तन, मन हो या अवचेतन
सब ये सत् हैं
स्वयं सत् हैं

सत् ही धाता विधाता है
पालक पोषक निज का निज ही
सत् ही विष्णु त्राता है
प्रलय पताका
सत् ही शिव सघाता है ।

इसीलिए अब
तन से, मन से
और वचन से
सत् का सतत
स्वागत है, सुस्वागत है।

□□□

दृष्टि झुकी चरणों में

चपला हरिणी दृष्टि
अबला हठीली
बाहर सरला तरला
भीतर गरला गठीली
ऊपर सौम्य छबीली
सुन्दर
कुटिल कुरूप कटीली
अन्दर
पर ! आज पूर्ण परिवर्तन

प्रतिलोम चाल चलती
यह एक बहाना है
चरण रज सर पर चढाती
मौन कह रही

आज हुआ भला
जीवन को अर्थ मिला
जो कुछ था व्यर्थ, टला
व्यष्टि से दृष्टि हटी
समष्टि का पान करती
गुण - गान करती

करती सक्रिय चरण की पूजन
क्रियाहीन को क्रिया मिली
दृष्टि को मिली
चरण शरणा
निरावरणा
निराभरणा ।

□□□

पीयूष भरी आँखें

अपरिचित होकर भी
परिचित सी लगती है
अतल सागर सत्ता से निकली
इधर
मेरी ओर एक
सजीव लहर आ रही है
हर क्षण, हर पल
अश्रुत-पूर्व
श्रुतिमधुर गीत
गहर गहर कर गा रही है
वासना की नहीं
उपासना की रूपवती मूर्ति
मेरे लिए
पीयूष भरी
ऑखे लिए
जहर नहीं
महर ला रही है
देखो ना !
मोह मेघ की महाघटाये
दुर्वार घूँघट
पूरी शक्ति लगा
चीरती चीरती
चिदानन्दिनी
शरद चॉदनी
नजर आ रही है !

हो जाने दो

सत्ता पलट तो गई है
भोग का वियोग हुआ
योग का सयोग हुआ
किन्तु उपयोग का !
उपयोग कहाँ हुआ?
भोक्ता पुरुष ने
उपयोग का उपभोग नहीं किया
मात्र परिधि पर
परिणाम हुआ है बस !
अभी केन्द्र मे
सूम् साम है, शाम है !
हे घनशाम तुम सा अनन्त
इसे भी
हो जाने दो !

सो जाने दो

ओ री ! ललित लीलावती
चलित शीलावती
भ्रमित चेतना !

जब से तेरा
क्रीड़ास्थल
बाहर से आ भीतर बना है
तबसे
पुरुष की पीडा
और घनीभूत हुई है

मानो मस्तिष्क मे
काट रहा हो
पडा पडा एक कीडा
इसलिए निवेदन है
अब पुरुष को
सानन्द अनन्तकाल तक
सो जाने दो !

अंतिम माता

ओ माँ !
सार्वभौमा
भली कहाँ गई तू !
चली !
इसे विसार छोड़कर
निराधार
इधर यह
भटक रहा है
इधर उधर गली गली
तुझे ढूँढता कहाँ है वह
गूढता निगूढता
अकेला बावला बन
जिधर जिधर
दृष्टिपात किया
- उधर उधर
शून्य ! शून्य !! शून्य !!!
केवल शून्य !
क्या शून्य मे लुप्त गुप्त हुई ?
किधर गई किधर देखूँ?
अधर मे मुझे मत लटका !
हे ! अधर पथ गामिनी
मौन मुस्कान
कम से कम
दिखा दे
अधर पर

अमूर्त केन्द्र की ओर
अमूर्त इन्द्र को
गतिमान प्रगतिमान
होने की
विधि दिखा दे
या

मौन सांकेतिक
भाषा में वह
लिखा दे
हे अनन्त की जननी !
अनन्तिनी !
अनन्तकाल के लिए
अपने अविचल अक में
आश्रय दे
इसे बिठा ले

यह समय, अभय हो
पल्यक - आसन लगा
उस अक मे
शीतल शशांक - सा
पर ! आशक
आत्माभिभूत हो सके

इस मे अनावरण का वातावरण
आविर्भूत हो सके
पूतपना
प्रादुर्भूत हो सके।
हो सके।
इतनी कृपा कर देना ।

कौन सा पथ है तेरा
जिस पथ पर चिन्हित
पद चिन्हों को
कैसे चीन्हूँ ?

यह पूरा श्लथ है
अश !
अपने वश से
अज्ञात ! परिचित कहाँ है ?
अनाथ है
अपने अश को
कम से कम
अपने वश का
ज्ञान करा दे !

अनुमान करा दे माँ !
हे ! अशवती !
हे! हसमती !
सोमाँ !
ओ माँ !
ओ ! चाँदनी !
चिदानन्दिनी !

यह चेता
चातक !
चारु चरित से
चलित विचलित
हो गया है
चिर से
इसे कब फिर से! वह

शरद धवल
पयोधर सी
पावन पूत
हे ! पयोधरा !
पयोधर पिला

पूत को पुष्ट नहीं बनाओगी
अभिभूत !
पूत कब बनाओगी ?
हे ! विमल यशोधरा
हे ! पयोधरा
भाँति भाँति के भावों से
बार बार यह
बालक, माँ !

बाधित न हो
रहे अबाधित
सदा भावित
शीतल अचल में
छुपा ले इसे !
भोले बालक को
हे ! जगदम्बा!

बहु भावों से
भावित भाल तेरा
कृपा - पालित कपाल तेरा
सब इगनो का
अंकन ! मूल्यांकन !
कठिनतम कार्य है माँ !
यह निर्बल मन मेरा

बंकिम है
शंकित है
अंतिम भगिम ।
भाल पर
उन इगनों को
कैसा ?कब?
कर पाता अंकित

हे ! आदिम अन्तिम माता !
प्रमाता की माँ !
अतुल दर्शक
दर्शक हर्षक
तरल सजीव
करुणा छलकती
नयनो मे
अपलक

एक झलक
बिलखते बिलखते
नयनो को
लखने दे
परम करुणा रस को
भाव से
और चाव से
चरचर,चरचर
चखने दे

ओ चेतना !
ध्रुव केतना !
मम ता मम ता
ओ ममता की मुर्ति
मत छोड़ना मम ममता ।

□□□

भूचुम्बी द्वार

प्रभु के
विभु त्रिभुवन के
निकट जाना चाहते हो तुम !
उस मदिर मे जाने
    टिकट पाना चाहते हो तुम
    वहाँ जाना बहुत विकट है
    मानापमान का
    अवसान ! अनिवार्य है सर्वप्रथम!
    वहाँ विराजमान हैं भगवान !
जिस मदिर का
चूल! शिखर !
गगन चूम रहा है
और प्रवेश द्वार
धरती सूँघ रहा है
वहाँ जाना बहुत विकट है ।

निर्णय लिया निशा में

विपरीत रीत
बनी दशा मे
अमा की
घनी निशा मे
स्वय को देखा था

कि मैं अकेला
प्रकाश पूँज हूँ
ललाम हूँ
शेष सब
शाम शाम

किन्तु ज्ञात हुआ
आज । पौर्णिमा
केवल आप हो
उद्योत इन्दु ।
और यह टिम टिमाता
खुद खद्योत है ।

चितकबरा

प्रकृति के प्यार ने

रगीन राग ने

अरूपी पुरुष को

चिदम्बर को

न केवल

पापी पाखण्डी

और रूपी बनाया है

परन्तु

पुरुष की परख करना भी

कठिन हो गया है आज ।

बहुरूपी बनाया है

चितकबरा

बेशक ।

पल पल पलटन

हे ! अमरता
हे! अमलता
समलता का जीवन जीता
असह्य सहता

विरह वेदना
युगल कर तल
मलता मलता
मरता मरता
बचा है क्षीणतम श्वास
इस घट मे
ऐसा भाग्य किसने रचा है ?

जिसके सम्मुख मौन
वेद, पुराण, ऋचा हैं
तू कहाँ गई थी
अपना कलेजा
साथ ले जाती
अपना दिल धडकन !

तो यह सब
क्यो यो
घटित होती
अनहोनी सी
ओ! परम सत्ता !
स्वाभिमान से घुली
गभीर ध्वनि
ध्वनित हुई

सम्बोधन के रूप मे
अरूप शून्य मे से
कि
अरे ! लाला
वाणी में जरा सा
सयम ला ला।

बना बावला
कहीं का
मैं भ्रमणशीला नहीं हूँ
विभ्रमशीला नहीं हूँ

सदा सर्वथा
सहज सजीली
मेरी लीला
काला पीलापन,
लाला नीलापन
महासत्ता में
सम्भव नहीं है
विलोम परिणमन
पर का अनुगमन

प्रभावित हो पर से
पर के प्रति नमन
परिणमन।
असम्भव।
त्रैकालिक

अपनी सीमा
इयत्ता का
उल्लंघन !
हाँ।
व्यक्तित्व की सत्ता में
यह सब कुछ
होना सम्भव है

तभी भटक रहा है
तू भव भव
पराभूत हो
किये बिना
अपना अनुभव

नाना विकारों मे
नाना प्रकारो मे
बार बार हो उद्भव
उचित ही है
कि
कोमल कोमल

कोपल
पल पल
पवनाहत हो
क्यो ना दोलायित हो
अपना परिचय देते
मौन खोल देते

गाभीर्य त्याग
भोले बालक - सम
बोल - बोल लेते
फूले वे
डाल - डाल के
गोल - गोल है

गाल - गाल भी
चचलता मे
झूले वे
अपनी अपनी
सीमा परिधि
सहज चाल को

भूले वे
पर ! पर क्या?
तरु का स्कन्ध !
निस्पन्द ! स्तब्ध ! होता है
कब हुआ ? वह स्पन्दित !

पुरुषार्थ के बल
केवल बल का
विस्फोटक हो जा
हे भव्य !

भावी भवातीत
शिव शकर !
हे! शभव!
अब तो कर ले
आत्मीयता का
अव्यय भव वैभव का

अनुपम अनुभव !
हृदय मे उठती हुई
तरगमाला
समर्पित करती हुई
लघु सत्ता

ओ महाशक्ति !
अपनी शक्ति से
या युक्ति से
इसे प्रभावित कर दो
शासित कर दो
अपने शासन से

ऐसा सम्मोहित कर दो
कि यह
अर्पित हो सके
सेवक बन कर
पाद प्रान्त मे

सरोष स्वरों में
महासत्ता का उत्तर।
सर्वसहा हूँ
सर्व स्वहा नहीं हूँ
लेना नहीं
देना ही जानती हूँ

जीवन मानती हूँ
महा सत्ता माँ
दूसरो पर सत्ता चलाना
हे वत्स।
हिंसक कार्य मानती है

आरूढ हो
सिंहासन पर
शासक बन
शासन चलाना
परतन्त्रता का पोषण है

स्वतन्त्रता का शोषण है
यही माँ का सदा सदा बस
उद्घोषण है
सत्पथ दर्शक
दिव्यालोक
रोषन है। रोषन है॥

□□□

बिजली की कौंध

आलोक का अवलोकन
आँखे करतीं
अकुलातीं, विकलित होतीं
एक पर टिकती नहीं
उस की ऊर्जा बिकती है
पल - पल परिवर्तित हो
पर पर जा टिकती है

यही कारण है
हे ! आलोक पुज !
आलोक तुम से
नहीं चाहता यह
विशुद्धतम तम - तम मे
ऑखे पूरी खुलती हैं
एक पर टिकतीं अनायास !
अपलक निश्चल होती है
अवलोकन पूरा होता है

मनन मन्थन अबाधित चलता है
अनुभूति मे मति ढलती है
इसलिए
आलोक बाधक है

अलिगुण कालिख अन्धकार !
साधक है इस साधक को
अपना आलोक
इन ऑखों पर मत छोडो !
ओ ! आलोक - धाम !
बिजली कौंधती है तब !
आँखें मुँदती हैं !

□□□

प्यास, पराग की

ऊर्ध्वमुखी हो
ऊर्ध्व उठा है इतना
कि जिसे
अशन वसन की
ललन मिलन की
परस हसन की
और

प्रभु पद दर्शन की तक
इच्छा नहीं शेष !
गुण सुरभि से सुरभित
फुल्लित फूल परागी
कहाँ है वह वीतरागी

कहीं हो
उसे हो नमन
पराग प्यासा
अलि बन रागी !

कदम फूल, कलम शूल

इस युग में भी
सत युग सा
सुधार तो हुआ है
पर लगता है
उधार हुआ है।

अन्यथा
कभी का हुआ होता
उद्धार।
प्रभु के कदमो पर
चलने वाले कदम कम नहीं है।
उन कदमो में
मखमल मुलायम
अच्छी अहिंसा पलती है

साथ ही साथ
उन कलमो मे
हिंसा की दुगनी ज्वाला जलती है
इस युग में भी
सत युग सा
सुधार तो हुआ है
पर लगता है
उधार हुआ है।

मन्मथ मथनी

मणिमय मौलिक
दिव्यालौकिक
मनहर हार
जब से तुम से
प्राप्त हुआ है
उसे बस !
अपहरण करना चाहती है
मुझे वरण करना चाहती है
अनन्त भविष्य मे
मेरे चरण - शरणा
गहना चाहती है

स्वय अकेली
जीवित रहने को
स्वीकृति है
इच्छा है
पर ! धृति नहीं है
अक्षमा!

विलम्ब हुआ
सेव्य की गवेषणा मे
कारुणिक ऑखो से
मन ही मन

मान्नो! मौन कहती
माँग रही है
पुनः पुन क्षमा
मृदु - मुक्ति - रमा !

परन्तु यह सब
इसे कब स्वीकार है ?
यह स्वय ही
श्रीकार है
इस गूढ गोपनता को
इसने सूँघा है
इस की नासिका
सोई नहीं अब ।
उत्थानिका है
और
एक और कारण है

दासी दास बनना
इतनी परतन्त्रता नहीं
जितनी कि
ईश स्वामी बनना
परतन्त्रता की अन्तिम सीमा है
इसीलिए
अक्षतवीर्य हूँ और रहूँ

अविवाहित ।
अबाधित बनने
विवाह करना
रमणी रमण मे रमना
मातृ सेवा से वचित रहना है ना ।

यह एक महती
असह्य वेदना है
मेरे लिए ।

हे चितिजननी !
अग अग को
अनग अगार
अगारित कर न ले
अगातीत अनुभव क्षण मे
सगातीत भावित मन मे
अकुरित विकार कर न ले
और
महदाकार धर न ले

इससे पूर्व
सरस शान्त सुधा
कृपावती ! कर कर कृपा
इसे पिला दे।
हे ! यतिगणनी !
फलस्वरूप
रति, रति पति के प्रति
मति मे रतिभाव
हो न सके प्रादुर्भाव !
बस !
इस मति की रति
विषय विरति में
सतत निरत रहे

हे रतिहननी!
जिन मे परम शान्त रस
पर्याप्त मात्रा मे
छलक रहा हो

जिन मे चिति गोपन - पन
ऊपर आने को
मचल रहा हो

ऐसे श्रुति मधुर
अश्रुत - पूर्व
आतम गीत संगीत
सुना - सुना कर
सकट कटक विहीन
अपने अक मे
इसे बुला ले !
सुचिर काल तक
इसे सुला ले !
हे ! मन्मथ मथनी !
मार्दव माता
मतिशमनी !
फलत निश्चित

समग्र ऊर्जा
ऊर्ध्वमुखी हो
आतम पथ पर
यात्रित हो ।
मूर्त का बहिष्कार
अन्तर्मुहूर्त मे ।
त्रुटित गात्रित हो ।
परिधि से हट कर
सिमिट - सिमिट कर
अमिट केन्द्र मे,
एकत्रित हो ।
आगामी अनन्तकाल तक
एकतत्रित हो ।
हे! चितिजननी !

□□□

सागर तट

अज्ञात पुरुष
सागर - तट पर
निर्निमेष।
निहार रहा है
वस्तु - स्वरूप
रूप लावण्य
ज्ञात करना चाह रहा है

और वह स्वय
उधर से ।
ठहर ठहर कर
गहर गहर कर
अपार सागर
रहस्यमय गाथा
गाता गाता ।
जा रहा है जा रहा है

लहर लहर चुन
तट तक लाकर
लौट रहा है, लौट रहा है
लहरो को मुडकर कहॉ निहारता है ?
कब निहारा?
लहर लहर है
नहीं नहर है

नहरों मे लहर है
लहरो में नहर नहीं
लहर जहर हैं
कहाँ खबर है ?
किसे खबर है ?

उसी जहर से
अपना गागर
भरता जाता, भरता जाता
यह संसार !
प्रहर - प्रहर पर
मरता जाता, मरता जाता/यह संसार !
दुख से पीड़ित
आह ! भरता
मैं हूँ शाश्वत सत्ता
अविनश्वर जल का आकर ।
पर
प्राय अज्ञात ।
मेरा ज्ञात होना ही
मोक्ष है, अक्षय
मोह का क्षय है

अब तो ज्ञात कर ले
कम से कम
अपने पर,
महर महर कर ले
हे अज्ञात पुरुष !
अपने पर
महर महर कर ले ।

महका मकरन्द

हरा भरा था
पल्लव पत्तो
से उभरा था
प्रौढ पौधा
लाल गुलाब का
कल तक ।
डाल - डाल के
चूल - चूल पर
फूल दल फूला
महका मकरन्द
पूरा भरा था
कल तक
आज उदासी है उसमे ।
अकुलाया है

लगता है
घबराहट से उसका कण्ठ
भर आया है
कौन सुनता है उस रुदन को
अरण्य रोदन जो रहा
जिस पर मँडराता
मकरन्द प्यासा
भ्रमर दल ने
इस भीतरी गन्ध को भी
सूँघा है
अपनी नासा से
अपनी आजीविका
लुटती देख ।

बुला रहा है माली को
और कह रहा है
क्या सोचता है ?
अपराधी और नहीं
हे! उपचारक !
ऊपर ऊपर केवल
उपचार करता जा रहा है
अन्धाधुध !
क्या यह उपचार हैं ?
मात्र उपचार !

भीतर झाँकना भी अनिवार्य है
तू भूल रहा है
इस के मूल मे
एक कीडा
क्रीडा कर रहा है
सानन्द
मकरन्द चूस रहा है
क्या? अभी ज्ञात नहीं
हे! बावला बागवान !
कैसे बनेगा तू ?
भाग्यवान ! भगवान !

राकेन्दु

इसी की गवेषणा
करनी थी इसे
कि
किस कारण से
समग्र सत्ता सिन्धु
उमड रहा है यह
तट का उल्लंघन तक
कर गया है अब।
नाच नाचते
उछल उछल कर
उज्ज्वल उज्ज्वल
ये बिन्दु । बिन्दु ।
हे । राकेन्दु ।

तभी तो
चन्दन - गन्ध लिये
कर कमल बन्द हुए
मन्दी बन्दी
नयन कुमुदिनी
मुदित हुई
मन्द मन्द मुस्कान लिये
मधुरिम मार्दव
अधरों पर
और
यह चतुर - चातुर
चेतन चातक
चकित हुआ
भाव चाव से

शीतल चाँदनी का
चिदानन्दिनी का
पान कर रहा है
इतना ही नहीं
और भी गोपनता

बाहर आ प्रकाश को छू रही है
मुक्ता फल सम
शान्त शीतल
शुभ्र शुभ्रतम
सलिल सीकर
लीला सहित

बरस रहे है
इस के इस
मानस की इन्दुमणि से
इसीलिए
सुधा सिन्धु हो तुम!
सौम्य इन्दु हो तुम!

पारदर्शक

हे! योगिन्
दिन प्रतिदिन
यह आभास
अहसास हो रहा है इसे
कि
आपका परिणमन
स्वरूप विश्रान्त नहीं है
अपना प्रान्त
नितान्त ज्ञात हुआ है
आप्त हुआ है 'वह'
पर।
कहाँ प्राप्त हुआ है ?
वह रूपातीत
रसातीत उज्ज्वल जल से
कहाँ? शान्त हुआ है ?
स्नपित स्नात कहाँ हुआ है ,
अनन्त काल से
विमुख जो था
उस ओर मुख हुआ है
केवल
केवल सुख की ओर
यात्री यात्रित हुआ है
यात्रा अभी अधूरी है
पूरी कब हो।
इसीलिए
आप का हृदय स्पन्दन।

मानो मौन कह रहा निरन्तर ।
जो अन्दर चल रही है
उसी की उपासना
परमोत्तम साधना
रूपातीत को स्वप्रतीत को
अर्पित समर्पित है
अनन्तशः वन्दन !
यद्यपि नीराग हो
निरामय हो
पर ।
आराधक हो
आकार से आकृत हो
आवरण से आवृत हो
कहाँ तुम प्राकृत हो ?
कारण विदित है
जड़मय इन
साकार ऑखो मे
त्वरित अवतरित हो
निराकार से
निरा निराकृत हो ।
फिर !फिर क्या ?
आकार के अवलोकन से
ये आस्थावान विचार
कब हो सकते साकार ।
आराधक की आराधना से
यह आकुल आराधक
आराध्य कब हो सकता ?

पार - प्रदर्शक होकर भी
पार - प्रदर्शक नहीं है आप ।
दर्शक आपका दर्शन करता है
पर ।
स्वभाव भाव दर्शित कब होता ?
दर्शक को
समुचित है यह
दुग्ध धवलतम है
किन्तु
दुग्ध की समग्र सृष्टि
अपने उदरगत पदार्थ - दल को
स्व पर समष्टि को
दर्शित - प्रदर्शित
कहाँ ? कराती है ?

दर्शक की दृष्टि को
अपनी भीतरी गहराई मे
प्रविष्ट होने नहीं देती
उसमे
झुक कर झाँकने से
दर्शक को
अपना बिम्ब वह
अवतरित कहाँ दीखता ?
काश ! कुछ
झिल मिल झिल मिल
झलक जाये ।
केवल आकर
किनारा छाया ।

समग्र स्वरूप साक्षात्कार कहाँ ?
केवल बस ! उस दास की दृष्टि
द्वार पर उदासीना
प्रवेश की प्रतीक्षा मे
क्षीणतम श्वास मे
आशा सँजोयी
रह जाती खड़ी
स्वय भूल कर
बाहरी अचेतन स्थूल पर
अनिमेष दृष्टि गड़ी
इसीलिए
दुग्ध मे मुग्ध लुब्ध नहीं होना !
वह स्वय स्वभाव नहीं
स्वभाव प्रदर्शक साधन नहीं
किन्तु!
आर पार प्रदर्शक
अपने मे अवगाहित होने
अवगाहक को
आह्वान करता है
अवगाह प्रदायक
अबाधित अबाधक !
वह शुद्ध, सिद्ध घृत है
उसमे झाँको
अपनी आँखो
यथावत् आँको
व्यष्टि समष्टि
समग्र सृष्टि
साक्षात्कार अक्षत धार ।
शाश्वत सार !

□□□

मन की भूख मान

जैसे जैसे
सहज रूप से
विनीत ज्ञान का
विकास होता है
वैसे वैसे
मूल रूप से
मानापमान का
विनाश होता है
स्वाभिमान के
उल्लास विलास में
मृदुल मार्दव
मँजुल हास में
विनय गुण का
अनुनय करता
अवनत विनयी
ज्ञान दास होता है

परम सत्ता का
परम उदास होता है
समर्पित होता है
सब इतिहास !
इति. हास होता है
भीगा भाव
प्रतिभास होता है
समुचित है वह
पल्लव, पत्रों, फूल फलो के
विपुल दलो से, लदा हुआ है
धरापाद मे, धरा माथ वह
महक सूँघता
अवनत पादप
आतप हारक
आप !

केली अकेली

जीवन मे एक
निरी भीतरी
घटना घटी है
जब से
मृदु मँजुल
पूर्व अपरिचित
समता से मम ममता
मित्रता पटी है
अनन्त ज्वलन्त
अपूर्व क्षमता
इसमे प्रकटी है
जब से प्रमाद - पमदा की
ममता तामसता
बहु भागो मे बटी है

उसे लग रही
अटपटी है
प्रेम - प्यास ।
घटती घटती
पूरी घटी है
और वह स्वय
असह्य हो पलटी है
कुछ कुछ अधछुपी सी
अधखुली रिपुता रखती है
टेढी सी
दृष्टि धरी है
रोषभरी कुछ कहती सी
लगती है
अपलक लखती है मुझे ।

क्या दोष है मुझ में ?
क्या हुई गलती है?
अब तक मुझ पर
रुचिकर दृष्टि रही
आज ! अरुचिकर
दृष्टि ऐसी !
बनी कैसी यह ?
आप प्रेमी
यह प्रेयसी
अनय श्रेयसी
रूपराशि हो
कब तक रहेगी अब
यह दासी सी
उदासिनी हो प्यासी
अब तक इसे
प्रेम मिला
क्षेम मिला

किन्तु इसके साथ !
यह अप्रत्याशित
विश्वासघात!
क्यो हो रहा है
हे! नाथ
जीवन शिखर पर
वज्रपात है यह !
विखर जायगा सब !
आपत्ति से घिर आया जीवन !
आपाद माथ गात
शून्य पड़ गया है
हिमपात हुआ हो कहीं !
जम गया है

दीनता घुली आलोचना
प्रमाद की, ताने बाने
सुनकर
सुषमा समता ने
राजा की पट्टरानी सी
पुरुष को मौन देख कर
सौत - सी
थोडी सी चिढी
थोडी सी मुडी उस ओर।
मौन तोडा है
पुरुष स्वय विश्रान्त हैं
शान्त है
बोलेगे नहीं
मौन तोडेगे नहीं

और चिरकाल तक
मै अकेली
सुरभित चम्पा
चमेली बनकर
पुरुष के साथ
करूँगी सानन्द केली।
पिला पिला कर
अमृत धार
मिला मिला कर
सस्मित प्यार।

विकल्प पंछी

चिर से छाई
तामसता की
घनी निशा वह
महा भयावह
पीठ दिखाती
भाग रही है ।
जाग रही है
शनैः शनै सो
स्वर्णाभा - सी
सौम्य सुन्दरा
काम्य मधुरिमा
साम्य अरुणिमा
ध्रुव की ओर
बढी जा रही
बढी जा रही

शनै शनै बस ।
शैल समुन्नत
चढी जा रही
चढी जा रही ।
तेज ध्यान में
तेज ज्ञान मे
चरम वेग से
ढली जा रही
ढली जा रही।
स्वैर विहारी
विकल्प पछी
निजी निजी उन
नीड़ों में आ
नयन मूँद कर

शान्त हुए हैं
विश्रान्त हुए ।
दूर दूर तक
फैली छाया
सिमिट सिमिट कर
चरणो मे आ
चरण वन्दना
करी जा रही
करी जा रही ।
मौन भाव को
पूर्ण गौण कर
मुक्त कण्ठ से
मुक्त शैव स्तुति
पढी जा रही है ।
पढी जा रही है ।

सौम्य सुगन्धित
फुल्लित पुष्पित
भीगे भावों
श्रद्धांजलियाँ
चढी जा रहीं
चढी जा रहीं ।
अश्रुतपूर्वा
आज भाग्य की
धन्य धन्यतम
घडी आ रही
घडी आ रही. ।
ललित छबीली
परम सजीली
दृष्टि सम्पदा
निज की निज में
गड़ी जा रही
गडी जा रही.. ।

□□□

करूणाई

विशाल विशालतम
निहाल निहालतम
विश्वावलोकिनी
विस्फारिता
दो ऑखे
जिन मे झॉकता हूँ
सहज आप
आत्मीयता ऑकता हूँ
जहाँ निरन्तर
तरग क्रम से
असीम परिधि को
प्रमुदित करती है
तरलित करती है
करुणाई

पर !
लाल गुलाब की
हलकी - सी वह ।
क्यो तैर रही है
अरुणाई ?
बताओ इसमे क्या है ?
गहनतम गहराई ।
हे शाश्वत सत्ता !
क्या यही कारण है ?
जो विलम्ब हुआ
आत्मीयता उपेक्षित कर
निरालम्ब हुआ
भटकता रहा
सुचिर काल तक
लौटा नहीं
रोता हुआ भी

इसी बीच
मौन का भग होता है
और ।
गौण का रग होता है
नहीं नहीं यथार्थ कारण और है
जो निकटतम है
ज्ञात होना
विकटतम है
कि
सत्ता के रोम रोम पर
पडा हुआ
प्रभाव दबाव
परसत्ता का
राजसत्ता राजसता की
वह परिणति
अरुणाई

अपने चरम की ओर
फैलती तरुणाई
उसी की यह
परछाई है
प्रतीत हो रही है
तेरी ऑखो से
मेरी ऑखो मे
अपना दोष भला हो
पर पर रोष उछालो।
जब नहीं होता
सयम तोष
घट मे होश
यह श्रुति
श्रुति सुनती है

तत्काल
आँखें खुलीं
राजस रज
धुली
भ्रम टूट गया
श्रम छूट गया
और

गुरु सत्ता मे
लघु सत्ता जा
पूर्ण मिली
पूर्ण घुली
मधुरिम सवेदन से
आमूल सिंचित हुआ
एक ताजगी
एकता जगी ।

□□□

प्रति छवियाँ

भू - मण्डल मे
नभ - मण्डल मे
अमित पदार्थ हैं
अमिट यथार्थ हैं
और उनमे
समित कृतार्थ हैं
अमेय भी हैं
प्रमेय चित है
ज्ञेय ध्येय हैं
तथा हेय है
जडता गुण से
विरचित हैं
मोहीजन से
परिचित हैं

इन सब को तुम ।
नहीं जानते
हे। जिनवर ।
परन्तु ये सब
तव शुचि चित मे
प्रेषित करते
अपनी अपनी
पलायुवाली
प्रति - छवियाँ
अवतरित हो
ज्ञानाकार धरती
उपास्य की उपासना
मानो । उपासिका
करती रहती
बनकर छविमय आरतियाँ

यही आपकी विशेषता है
बहिर्दृष्टि निश्शेषता है
इसीलिए प्रभु
कृतार्थ हैं
बने हुए परमार्थ है
तुम मे हम मे
यही अन्तर है
तुम्हारी दृष्टि सा
अन्तर्दृष्टि है
व्यन्तर्दृष्टि नहीं
यही निश्चय नियति है ,
यही अन्तिम नि यति है ।
यही अन्तर्दृष्टि
निरन्तर उपास्य हो
इस अन्तर मे

क्योकि
विश्वविज्ञता स्वभाव नहीं
विभाव भी नहीं
अभाव भी नहीं
वह निरा
ज्ञेय ज्ञायक भाव है
औपचारिक
सवेदन शून्य ।
यथार्थ मे
स्वज्ञता ही
विज्ञता है स्वभाव है
भावित भाव ।

औपाधिक सब भावो से
परे ऊपर उठा बहुत दूर असपृक्त ।
और वह सवेदन
स्व का ही होता है
चाहे वह स्वभाव हो या विभाव ।
पर का नहीं सवेदन
पर का यदि हो
दुख का अन्त नहीं
सुख अनन्त नहीं
और फिर सन्त कहॉ ?
अरहन्त कहॉ ?
किन्तु ज्ञात रहे
स्वसवेदन भी
साप्रतिक तात्कालिक ।

त्रैकालिक नहीं
अन्यथा
दुख के साथ सुख का
सुख के साथ दुख का
क्यो ना हो
सवेदन ।वेदन ।
हे चेतन !
इतना ही नहीं
आत्म - गत अनन्तगुण
पूर्ण ज्ञान से भी
सवेदित नहीं होते
केवल ज्ञात होते
यह ज्ञात रहे
अथवा ज्ञान मे
अपना अपना

रूपाकार ले
झलक जाते स्वयं आप
ज्ञेय के रूप में
परिवर्तित प्रतिरूप में
जैसे हो वह
सम्मुख दर्पण
विविध पदार्थ
अपने अपने
रूप रग, अग ढग
करते अर्पण
दर्पण मे पर वह
क्या विकार झलकता ?
क्या? तजता दर्पण
आत्मीयता उज्ज्वलता ?

सो मैं हूँ
केवल सवेदन शील
धवलिम चेतन जल से
भरा हुआ लबालब ।
तरंग हीन
शान्त शीतल झील
खेल खेलता
सतत सलील
शेष समग्र बस ।
शून्य शून्य नील ।

□□□

दर्पण में दर्प न

आखिर यह
अपार सिन्धु
क्या है सागर
अगर ।
बिन्दु बिन्दु
अनन्त बिन्दु
वात्सल्य सौहार्द सहित
हो कर परस्पर
मुदित प्रमुदित
आलिगित आकुचित नहीं होते ।
मगर !
मगरमच्छ कच्छप
मारक विषधर अजगर
वहीं चरते हैं
वहीं चलते हैं

हिंसको के डगर
अनेक महानगर
वहीं बसते हैं
वहीं पलते हैं
महासत्ता नागिन
फूत्कार करती
अपनी फणावली
उन्नत उठाकर
अपनी सत्ता सिहासन
वहीं जमाती है
किन्तु काल्पनिक
इसीलिए
यह परम सत्य है

सिन्धु अशी नहीं है
बिन्दु अश नहीं है उसका
बिन्दु का वश सिन्धु नहीं है
किन्तु! बिन्दु!
अश अशी स्वय है
स्वय का स्वय आधार आधेय।
परनिरपेक्षित जीवन जीता है
केवल सागर लोकोपचार
इसी से अकथ्य सत्य वह
सार तथ्य वह ।
और पूर्ण फलित हो रहा है
कि
लय मे लय होना
यह सिद्धान्त जो रहा है
अनुचित सिद्ध हो रहा है
और !
प्रकाश प्रकाश मे
लीन हो रहा है
यह भी उपचार है
कारण यह है
कि
प्रकाश प्रकाशक की
अभिन्न अनन्य
आत्मीय परिणति है
गुण - धर्म - भाव
धर्म धर्मी से
गुण गुणी से
परत्र प्रवास करने का
प्रयास तक नहीं कर सकते

क्योकि
धर्मी का धर्म
गुणी का गुण
प्राण है श्वास है
यह बात निराली है
कि
बिना प्रयास प्रकाश से
प्रकाश्य प्रकाशित होते है
यह उनकी योग्यता है
किन्तु
प्रकाश्य या प्रकाशित मे
स्व पर प्रकाशक का
अवतरण अवकाश नहीं
यह भी बात ज्ञात रहे
कि जिनमे

उजली उजली उघडी
पूरी कलाये है
झिलमिलाये है
गुण - धर्म - जाति की अपेक्षा
एक से लसे है
पर ! बाहर से
उनमे
अपने अपने
अस्तिपना
निरे निरे हँसे हैं
फिर ! ऐक्य कैसे ?
शिव मे शिव
जिन मे जिन
चिर से बसे हैं

निज नियति से
सुदृढ कसे हैं
भ्रम भ्रम है
ब्रह्म ब्रह्म है
भ्रम मे ब्रह्म नहीं
ब्रह्म मे भ्रम नहीं।
अहा! यह कैसी ?
विधि विधान - व्यवस्था
प्रति सत्ता की
स्वाधीन स्वतन्त्रता
परस्पर
एक दूसरे के
केवल साक्षी ।
जिनमे कन्दर्प दर्प न
कहॉ करते ?
अर्पण समर्पण
अपना पन
दर्पण मे दर्प न ।

कब भूलूँ सब ?

स्वर्गीय भुक्ति नहीं
पार्थिव शक्ति नहीं
ऐसी एक युक्ति चाहिए
बार बार ही नहीं
एक बार भी अब ।
बाहर नहीं आ पाऊँ
निशि दिन रमण करूँ
अपने मे
द्वैत की नहीं
अद्वैत की भक्ति चाहिए
आभरण से
आवरण से
चिरकाल तक मुक्ति चाहिए
ओ । परम सत्ता ।

अनन्त शक्ति लिये
निगूढ मे बैठी
विलम्ब नहीं अब
अविलम्ब ।
निरी निरावरण की
व्यक्ति चाहिए
भावी भटकन की
आकाँक्षाओ - कुण्ठाओ
डाकिनी सम्मुख न आये
विगत वनी मे रहती
पिशाचिनी का
मन मे स्मरण नहीं आये
स्मरण - शक्ति नहीं
विस्मरण की
शक्ति चाहिए ।

□□□

पक्षपात : पक्षाघात

शिशिर वासत से
छिल सकता है
अशनिपात से
जल सकता है
गल सकता भी
हिम पात से है
पल पल पुराना
अधुनातन
पूरण गलन का
ध्रुव निकेतन
अणु अणु मिलकर
बना हुआ यह तन ।
पर ! इन सबसे
कब प्रभावित होता?
मानव मन !

और जिस रोग के योग मे
भोगोपभोग मे
बाधा आती है
भोक्ता पुरुष को
उसका
एक ओर का हाथ
साथ नहीं देता
कर्महीन होता है
उसी ओर का पाद
पथ पर चल नहीं सकता
शून्य दीन होता है
मुख की आकृति भी
विकृति होती है
एक देश !

वैद्य लोग
उसे कहते हैं
पक्षाघात रोग
किन्तु उसका
मन मस्तिष्क पर
प्रभाव नहीं
दबाव नहीं
इसीलिए
पक्षाघात ही
स्वय पक्षाघात से
आक्रान्त पीडित है
किन्तु यथार्थ मे पक्षपात ही
पक्षाघात है

जिसका प्रभाव
तत्काल पडता है
गुप्त सुरक्षित
भीतर रहता
जीवन नियन्ता
बलधर मन पर ।
अन्यथा हृदय स्पन्दन की
आरोहण अवरोहण स्थिति
क्यो होती है ?
किसकी करामात है यह ?
यही तो पक्षपात है

सहज मानस
मध्यम तल पर
सचाई की मधुरिम
भावभंगिम तरग
उठती है
क्रम क्रम से आ
रसना के तट से
टकराती हैं, वह
रसना तब भावाभिव्यजना
करती है
पर ।
लडखड़ाती, कहती है ।
कोई धूर्त
मूर्त है या अमूर्त
पता नहीं।

मेरा गला घोट रहा है ,
'ज्ञात नहीं मुझे '
'वही तो पक्षपात है '
किसी एक को देखकर
ऑखो मे
करुणाई क्यो?
छलक आती है
और किसी को देख कर
ऑखो मे
अरुणाई क्यो ?
झलक आती है
किसका परिणाम है यह ?
इसी का नाम
'पक्षपात' है

पक्षपात !
यह एक ऐसा
गहरा गहरा
कोहरा है
जिसे
प्रभाकर की प्रखर - प्रखरतर
किरणें तक
चीर नहीं सकतीं
पथ पर चलता पथिक
सहचर साथी
उसका वह
फिर भला
कैसा दिख सकता है ?
सुन्दर सुन्दर सा
चेहरा गहरा. !

पक्षपात !
यह एक ऐसा
जल - प्रपात है
जहाँ पर,
सत्य की सजीव माटी
टिक नहीं सकती
बह जाती
पता नहीं कहाँ?
वह जाती
और असत्य के अनगढ
विशाल पाषाण खण्ड
अधगढे टेढे - मेढ़े
अपनी धुन पर अडे
शोभित होते ।

भयानक पाताल घाटी
नारकीय परिपाटी
जिसमे
इधर उधर टकराता
फिसलता फिसलता जाता
दर्शक का दृष्टिपात ।
एतावता
पक्षपात पक्षाघात है
अक्षघात है ब्रह्मघात है
इसलिए
प्रभु से प्रार्थना है
स्वीकार हो प्रणिपात ।
आगामी अनन्तकाल प्रवाह मे
कभी न हो
पक्षपात से
मुलाकात ।

बोल, मुस्कान !

धरती से फूट रहा है
नवजात है ,
और पौधा
धरती से पूछ रहा है
कि
यह आसमान को कब छुएगा।
छू सकेगा क्या नहीं ?
तूने पकडा है
गोद मे ले रखा है इसे
छोड दे।
इसका विकास रुका है
ओ ! मॉं।
मॉं की मुस्कान बोलती है
भावना फलीभूत हो बेटा !
आस पूरी हो !
किन्तु
आसमान को छूना
आसान नहीं है
मेरे अन्दर उतर कर
जब छूयेगा
गहन गहराइयॉं
तब कहीं सभव हो
आसमान को छूना
आसान नहीं है ।

डूबो मत, लगाओ डुबकी

स्व - पर पहिचान
ज्ञान पर आधारित है
आगमालोकन आलोडन से
गुरु वचन - श्रवण - चिन्तन से
अपने मे
ज्ञान गुण का स्फुरण होता है
पर! सक्रिय ज्ञान
आत्मध्यान मे बाधा डालता है
विकल्पो की धूल उछालता है
ध्याता की साधक दृष्टि पर ।
किन्तु वही हो सकता है
उपास्य मे अन्तर्धान!
जिसका ज्ञान !
शब्दालम्बन से मुक्त हुआ है
बहिर्मुखी नहीं
अन्तर्मुखी
बहुमुखी नहीं
बन्दमुखी
एकतान !
यह सही है
तैरने की कला से वचित है
उसे सर्वप्रथम
तारण-तरण तुम्बी का सहारा अनिवार्य है
उस कला में निष्णात होने तक !

जब डुबकी लगाना चाहते हो तुम ।
गहराई का आनन्द लेना चाहते हो तुम ।
तब तुम्बी बाधक है ना ।
इतना ही नहीं
पीछे की ओर पैर फैलाना
आजू - बाजू हाथ पसारना
यानी तैरना भी
अभिशाप है तब ।

यह बात सत्य है
कि
डुबकी वही लगा सकता
जो तैरना जानता है
जो नहीं जानता
वह डूब सकता है
डूबता ही है
डूबना और डुबकी लगाने मे
उतना ही अन्तर है
जितना
मृत्यु और जीवन मे ।

तुम कैसे पागल हो

रेत रेतिल से नहीं
रे। तिल से
तेल निकल सकता है
निकलता ही है विधिवत् निकालने से
नीर - मन्थन से नहीं
विनीत - नवनीत
क्षीर - मन्थन से
निकल सकता है
निकलता ही है
विधिवत् निकालने से ।
ये सब नीतियाँ
सबको ज्ञात हैं
किन्तु हित क्या है ?
अहित क्या है ?
हित किस मे निहित है कहाँ ज्ञात है ?
किसे ज्ञात है ?
मानो ज्ञात भी हो तुम्हे
शाब्दिक मात्र ।
अन्यथा
अहित पन्थ के पथिक
कैसे बने हो तुम ।
निज को तज
जड का मन्थन करते हो
तुम कैसे पागल हो
तुम कैसे 'पाग लहो ?

स्वयं वरण

तू तो अपना ही गीत
गुनगुनाता रहता है
रे ! स्वैरविहारी मन
जरा सुन !
सयम का बन्धन
बन्धन नहीं है
वरन ।

अबन्ध दशा का
अमन्द यशा का
अभिनन्दन वन्दन है
अन्यथा

मुक्ति रमा वह
मोहित - सम्मोहित हो
उपेक्षित कर इतरो को
सयत को ही
क्यो करती है
स्वय वरण ?

भीगे पंख

सूरज सर पर
कस कर तप रहा है
मै निसंग हूँ।
आसीन हूँ
सुखासन पर
ललाट तल से
शनै शनै
सरकती सरकती
भृकुटियों से गुजरती
नासाग्र पर आ
पल भर टिकी
गिरती है
स्वेद की बूँद
वायुयान गतिवाली
स्वच्छन्द उड़नेवाली
मक्षिका के पख पर।

और वह मक्षिका
भीगे पंख।
उड़ने की इच्छा रखती
पर। उड़ ना पाती है
धरती से ऊपर
उठ न पाती

यह सत्य है कि
रागादिक की चिकनाहट
और पर का संपर्क
परतन्त्रता का
प्रारूप है।

उषा में नशा

उषा - काल मे
उतावली से
तृषा काय की
बिना बुझाये
कहाँ भाग रहा है तू ?
मुझे पूछते हो तुम ।
उषा मे नशा करने वालो
निशा में मृषा चरने वालो !
यह रहस्य अज्ञात होना
दशा पागल की है

दिशा चाहते हो
पाना चाहते हो
सही दशा वह!
जरा सुनो !
स्वय यह
उषा भाग रही है
जिसके पीछे पीछे
निशा जाग रही है
जिसका दर्शन
'यह' नहीं चाहता अब ।

□□□

प्राकृत पुरुष

मदन मोहिनी
रति सी मानिनी
मृदुल - मॅजुल
मुदित - मुखी
मृग दृगी
मेरी मति
आज बनी है
मलिन मुखी म्लान
अध खुली
कमलिनी सी
और लेटी है
एक कोने मे
ना सोने मे
ना रोने मे
जिसे चैन है

बार बार बदल रही है
करवटे
इस स्थिति मे
अपने होने मे भी
उसे अब ! हा!
अर्ध मृत्यु का सवेदन है
पूर्ण वेदन है
मेरी निरी
करुण चेतना
खरी
वहीं खडी खडी
समता की साक्षात् धरती
साहस धरी
हृदयवती सतियो मे सती सी
उसे देख

अपने उदार अक मे
पृथुल मासल
जघा का बल दे
आकुलता से आहत
परम आर्त।
मति मस्तक को
ऊपर उठा लिया है
और अपने
प्रेम भरे
मखमल मृदुल
कर पल्लवो से
हलकी हलकी सी
सहला रही है
सवेदनशील शब्दों मे
सबोधित करती
साहस बॉधती
किन्तु वह
वचनामृत की प्यासी नहीं
विरागता की दासी नहीं
सरागता की अपार राशि जौ रही
अपनी ही
मार्दव मॉसल बाहुओ से
श्रवण द्वार बन्द कर
पीछे की ओर
दो दो हाथो से
शिर कस कर
बॉध लिया ।

कुटिल कुटिल तम
कज्जल काले
कुन्तल बाल
भाल पर आ
बिखरे हैं
निरे निरे हो
अस्त व्यस्त
इस सकेत के साथ
कि
समुज्ज्वल - भाव - भूमि पर
अब भूल कर भी
दृष्टि - पात सम्भव नहीं ।
यह पूर्णत प्रकट है
कि
इस मति का अवसान काल
निकट सन्निकट है

'विनाशकाले विपरीतबुद्धि
'अन्ते मता सो गता'
सूक्तियॉ सब ये
चरितार्थ हो रही हैं
सूखी
गुलाब फूल की लाल पॉखुडी सी
जिसके युगल
अधर पल्लव हैं
जिन मे
परमामृत भरा था
मृत हुआ क्या, विस्तृत हुआ?
या किसी से अपहृत हुआ ?

यह रहस्य
किसे और कब
अवगत हुआ है ?
बिल से अध - निकली
सर्पिणी सी
मति मुख से
बार बार बाहर आकर
अधरो को सहलाती
और सरस बनाने का
प्रयास करती दुलार प्यार करती
लार रहित रसना ।
और

समग्र अग का जल तत्व
भीतर की तपन से
उर्ध्वमुखी हो
ऊपर उठा है
और यही कारण है कि
जिस के तरल सजल
युगल लोचन हैं
जिन मे अनवरत
करुणा की
सजीव तरग
तैर कर तट तक आ रही है
तापानुपात की अधिकता से
बीच बीच में
डब डब डब डब
भर आते हैं

और वे दृग बिन्दु
टप टप, टप टप
गोल गोल
लाल लाल
सरस रसाल
युगल कपोल पर
मन्द ध्वनित हो
नीचे की ओर पतित होते
सूचित कर रहे है
पाप का फल, प्रतिफल
अध पतन है।
अगम अतल
पाताल ।
अमित काल
तिमिरागार

मात्र सहचर रहेगा
और उसी बीच
एक अदृश्य
दिव्य स्वर उभरा ।
शून्य मे
एक बार भी
प्राकृत पुरुष का
दर्श होता
अनिर्वचनीय
हर्ष होता इसे
जीवन दर्पण आदर्श होता
तो फिर यह
क्यो व्यर्थ मे
सघर्ष होता ।

अतीत की स्मृति में
सभीत मति
डूब रही है
अधीत के प्रति
उदास ऊब रही है
उस का उर
भर भर आ रहा है
अर्थ - पूर्ण - भावो से
और आज तक
जो कुछ घटित हुआ
हो रहा है
उसे भीतर से बाहर
शब्द रूप देकर
निष्कासित करने को

एक बडी
विवेकभरी
उत्कण्ठा उठी है
पर !
भाग्य साथ नहीं देता
कण्ठ कुण्ठित है
केवल रुक रुक कर
दीर्घश्वास की पुनरावृत्ति
प्रकट कर रही है
भीतर अशुभतर घुटन है
पश्चाताप की ज्वाला मे
झुलस रहा है
अन्तर - जगत्
इस दयनीय दृश्य को
सेवा शीलवती
मेरी चेतना

खुली आँखें से
पी रही है
मति की,चिति की
एक जाति है ना।
यही कारण है
कि
चिति भी तरल हो आई
और सरल हो आई
वैसी मति भीतर से
तरल सरल नहीं है
स्वभावशील से
गरल ही है
और दोनो के बीच
धीमे धीमे
आदान प्रदान
प्रारम्भ होता है भावो का

मति का भाव
दीनता से हीनता से भरा
प्रकट होता है
भावी काल का अनन्त प्रवाह
असहनीय विरह वेदना मे
व्यतीत होगा
वह अनन्त विरह
सहचर मीत होगा
मेरा तब ।
रह रह कर नाथ की स्मृति
विरह अनल में
घृताहुति का
काम करेगी

अब चेतना मुख खोलती है
कि
पुरुष तो पुरुष होते हैं
और उनका
सहज धर्म है वह
हमारे लिए अभिशाप नहीं
वरदान ही है
और दुखद बन्धन
बलिदान का
अवसान है
'पुरुष को मुक्ति मिलना
विकृति से लौट
प्रकृति का प्रकृति में
आ मिलना है'
अपने में खिलना है

अपनी अपनी पूर्ण कलाये
पूर्ण खुलना है
सम्पूर्ण शुचिता लिए
चन्द्र की चाँदनी सी।
एकतत्व में सुख है
अनेकत्व मे दुख ।
एकत्व मे बन्धन नहीं
सदा स्वतन्त्रता
और ! मौन छा जाता है
इधर मैं 'आत्मा' पुरुष ।
एक कोने मे
बैठा हूँ स्तब्ध
निशब्द.... केवल हूँ

किन्तु मम ध्रुव सत्ता
तरल नहीं सजल नहीं
सघन हो आई
वस्तुस्थिति का
गति परिणति का
अंकन कर रही है
इस निर्णय के साथ, कि
मति से बातचीत करती
इस चिति से भी
पीठ फेर लेना विरति लेना
औचित्य होगा
और
रोषातीत
तोषातीत
परम पुरुष की
यही तो है
'परुषता और पुरुषता'
यह प्रमदा मे कहाँ
प्रकृति मे ।

अधर के बोल

सरस सलिल से
भरे हुए हो
कलुष कलिल से
परे हुए हो
इस धरती से
बहुत दूर हो तुम ।
शुद्ध शून्य मे
जलधर हो कर
अघर डोल रहे
इधर यह मयूर
चिर प्रतीक्षित है
आपकी इगन कृपा से
दीक्षित है।

ऊर्ध्वमुखी हो
जिजीविषा इस की
बलबती है महती
तृषातुरा है
आज तक इस के
कायिक - आत्मिक पक्ष
अमृत के बदले
जहर तोल रहे
तभी तो
अग अग से इस के
समग्र सत्व से
नीलिमा फूट रही है

इसलिए इसे
जोर शोर से
गरजो घुमड़ घुमड़ कर
सम्बोधित करो !
सुधा वर्षण से शान्त शुद्ध
परमहंस बना दो इसे
विलम्ब मत करो अब ।
ऐसे इस के
अपनी भाषा मे
शुष्क नीलम
अधर बोल रहे ।

□□□

तोता क्यों रोता

मानस - संकेत

कृपा हुई गुरु की। वरद हस्त रहा इस मस्तक पर। अणु - अणु का अतिशय ज्ञात हुआ। कण - कण का परिचय प्राप्त हुआ। पर प्राप्तव्य तो पर से परे है, इस सन्धि की गन्ध को भी इसकी नासा ने पी डाली। उसी का परिणाम है यह। परम की उपेक्षा हुई। चरम की अपेक्षा हुई। और चरम की ओर चल पड़े ये चरण चारु चाल से। चरण - संचरण जीवन बना इस चरका।

पथ पर बहुत दूर चल आया है यह। लो ! चलता - चलता निश्चल मन तरल चंचल हो आता है, और कुछ कहता है। हे साधक पुत्र! ना तो मैं करण हूँ। न ही उपकरण! हूँ केवल अन्तःकरण मैं, अदृष्ट से उपजा हूँ। इसीलिए आकारशून्य अदृश्य हूँ। ज्ञाता द्रष्टा नहीं अज्ञ अद्रष्टा हूँ। फिर भी अधिष्ठाता माना जाता हूँ उपचार से। आचार - रहित विचारों का अधिकरण हूँ प्रकृति का पुत्र! लाड़ला।

किन्तु तुम हो विशुद्धतम करण। निश्चित ढलोगे तुम शाश्वत - सुख - सत्ता के अनन्त अधिकरण में। इसलिए पथ पूर्ण होने से पूर्व इस युग को कुछ तो दो। और मन मौन में डूबता है।

मन की प्रेरणा से साधक पुत्र प्रेरित हुआ। सुदूर पीछे रहे, अमूर्त पथ के पथिकों पर करुणा आई और सूचना - फलकों के रूप में इन शब्दों को छोड़ता हुआ आगे बढ़ता है यह साधक, सहज गति से। और पथिकों से विशेष निवेदन करता है कि वे इन सूचना - फलकों को साथ लेकर इन शब्दों को छोड़ता हुआ आगे बढ़ता है यह साधक, सहज गति से। और पथिकों से विशेष निवेदन करता है कि वे इन सूचना - फलकों को साथ लेकर न चलें, वरन् इनसे सूचित भाव का अनुसरण करें, और शीघ्र सुख का वरण करें, धन्य!

गुरु - चरणारविन्द - चंचरीक

(आचार्य विद्यासागर मुनि)

आमुख ये कविताएँ : वे कविताएँ

'ये कविताएँ' से मेरा मतलब उन रचनाओं से है, जो इस संकलन में प्रकाशित हैं और 'वे कविताएँ' से मतलब उन-उन तमाम आधुनिक कविताओं से है, जो मंच, माईक या अखबार को दृष्टि में रखकर लिखी जा रही हैं रोज-रोज सहस्रों हाथों से। 'वे कविताएँ' कहने को कविताएँ ही कहलाती हैं, पर उनके जन्म के पीछे रचनाकार के यश/ख्याति/प्रतिष्ठा और कहें कुछ अंशों में अर्थ की कामना जुड़ी हुई रहती है। 'वे कविताएँ' श्रम, बुद्धि और अध्ययन से ही बनती हैं, पर 'ये कविताएँ' कहीं भी उनसे तौली नहीं जा सकतीं। 'ये कविताएँ' अपने आधार में जिन तत्त्वों को लिये हुए हैं उनमें श्रम, बुद्धि और अध्ययन भर नहीं है; दार्शनिकता, वैचारिकता और अध्यात्म की ऊर्जा भी इनके आधारबिन्दु हैं। इनमें दर्शन के नाम पर सम्यक्-दर्शन या जैनदर्शन की कोई चासनी बलात् नहीं दी गई है, वरन इन्हें पढ़ते - पढ़ते विद्वान आदमी को जैनदर्शन/ सम्यक्-दर्शन का दिव्य - दर्शन होने लगता है। वह बिन्दु में गहराई अथाहने लग जाता है। बिन्दु - बिन्दु है, सिन्धु - सिन्धु; पर जब आचार्य श्री के काव्य - बिन्दु से साक्षात्कार होता है, तब वह अपने आप काव्य - सिन्धु-सा विराट होता चला जाता है।

मैं उनकी कविताओं को लेकर नई बात बतला देना चाहता हूँ जिसे समीक्षक, आलोचक या भूमिकाकार अक्सर अपनी दृष्टि से ओझल कर जाते हैं।

ले लें उनकी ये पंक्तियाँ :

मन की खटिया पर
वयोवृद्धा आशा
जीवित थी।

'खटिया' शब्द यहाँ साधारण पाठक को खटक सकता है। शहर में ऊँचे - ऊँचे भवन और सिंचित उद्यान देखते रहने वाले जन, नैर्जन्य में झोपड़ी और झाड़ - झंखाड़ देखकर ऐसा मुँह बिदकाते हैं, जैसे कुछ वीभत्स-सा देख लिया हो। सम्भवतः यही दृष्टि आजकल का पढ़ा-लिखा पाठक भी लेकर चलने लगा है, किसी रचना में 10-5 कठिन या अनसुने/अनबौचे शब्द देखने को मिल जाएँ तो रचना को विशिष्ट मान बैठता है। रोजमर्रा बोलचाल में आने वाले शब्दों से वह प्रभावित नहीं होता दिखता। जैसे क्लिष्ट शब्दों से ही साहित्य बनता हो। आचार्यश्री इस सारे संकलन में कहीं भी शब्द - यात्रा पर नहीं दिखे, वे विचार - यात्रा के पथिक बनकर चले हैं पृष्ठ-दर-पृष्ठ। जिस तरह परिव्राजक महावीर अपने मगल - विहार के दौरान पतितों का उद्धार करते चले हैं, उसी तरह आचार्यश्री अपनी काव्य-यात्रा में शब्दों का उद्धार करते

दिखते हैं। यों उन्होंने साधारण शब्द पकड़ कर शिल्प के विरूप होने का खतरा लिया है, फिर भी अपनी भावभूमिका के कारण उनकी कविता का हर शब्द सम्मान पाता गया, जो शब्द अछूत समझकर विद्वानों द्वारा डिक्शनरी में सम्मिलित नहीं किए गए; आचार्यश्री ने उनका 'नागरिक अभिनन्दन' किया है और वे (शब्द) स्थापित होते चले गए। आचार्यश्री यह नहीं सोचते कि इन/ऐसे शब्दों से उनकी कविता का क्या होगा? पढ़ते - पढ़ते लगा कि शब्दों का खतरा झेल कर ही वे लोकप्रिय बने हैं, यह घोषणा मैं कर रहा हूँ। एक बात और; शब्द घटिया नहीं होते, उनका उपयोग करने का ढंग घटिया होता है। आचार्यश्री ने दोनों प्रकार का घटियापन नहीं स्वीकारा, और पंक्ति-पंक्ति में आत्मा की गंध जीवित बनाए रखने में वे सफल रहे हैं। यों जितने उनकी कृति 'नर्मदा का नरम कंकर' पढ़ी है वे कुछ उल्टा कहते मिले हैं — 'बड़ी कठिन भाषा है।' परन्तु इस संकलन में आचार्यश्री हर पृष्ठ को बोधगम्य बनाए रहे हैं बराबर।

'बिना दान भी, जीवन चलाना पुण्य, की निशानी है'

लगता है आचार्यश्री को खतरा मोल लेने की आदत है। यहाँ शब्द से नहीं तो भावपक्ष से उन्होंने खतरा लेने का प्रयास किया है। जब सारा संसार, दान के बाद जीवन को जीवन मानता है, वहाँ वे 'बिना - दान' के जीवन का भी मूल्यांकन करते हैं। पढ़ें रचना 'पकिल पद'। दार्शनिक की गंभीर आवाज सुनाई देने लगेगी।

'परम नमन में रम'

यह एक पंक्ति है; मगर एक पूरे पुराण का संदेश लेकर प्रकट हुई है। आदमी नाम का वह 'जीव' कहाँ रमे? उसे (आदमी को) यह भी नहीं मालूम। आचार्यश्री की दार्शनिक वृत्ति का इस कविता से पूरा परिचय प्राप्त हो जाता है, जब पढ़ने को मिलता है -

चरम चमन में रम
नरम में न रम, न रम!

संकलन की अन्य कविताएँ भी उच्च - मनन की गौरव गरिमा से मंडित हैं। खास तौर से 'तोता क्यों रोता' रचना; जिसके नाम से प्रस्तुत पुस्तक का संज्ञाकरण किया गया है, अपनी वैचारिक - गहनता के लिए पाठकों द्वारा बार - बार पढ़ी जायेगी। हर बार एक रहस्य उद्घाटित होगा। हर बार सोच का नया क्षितिज नेत्र - पटल से टकरायेगा। हर बार कविता से ही कुछ वार्ता करता लगेगा उसका बोधी - मन।

कहने को इस पुस्तक के नन्हें - से कलेवर में 55 रचनाएँ संगृहीत हैं, पर पढ़ने वाले कहेंगे - वे 55 रेखाएँ हैं, काव्य की अनुभूति की; अध्यात्म की और एक पूर्ण कवि के चिन्तन की।

आचार्यश्री का व्यक्तित्व और कृतित्व विशेषणों से परे हैं, यदि कहा जाय कि वे युग के महाकवि हैं या श्रेष्ठकवि हैं, तो विशेषण बौना लगता है। युग के हाथों और मस्तिष्क में इतनी शक्ति नहीं कि कोई नया विशेषण गढ़ दे। (कोई गढ़ भी दे तो आचार्यश्री कब स्वीकारने वाले हैं?) जो दिगम्बरत्व धारण कर चुके हैं, वे अब और कुछ धारण करने की रौ में नहीं आ सकते, पर यह सही है कि पू. विद्यासागर जी तपश्चर्या में जितने आगे हैं, उतने ही वे कविता में भी हैं। उनका कविता-प्रेम ही उनकी 'मनःसाधना' है, आत्मसाधना है। जबलपुर - प्रवास के दौरान उन्होंने 'मूकमाटी' नाम से जो सुन्दर काव्य प्रारम्भ किया है, उसे पढ़ने के बाद पाठक। आलोचक मेरे विचारों को अक्षरशः हृदय में धारण कर सकेंगे। 'मूकमाटी' महाकाव्य की श्रेणी का एक असामान्य ग्रन्थ सिद्ध है। उसकी तुलना के लिए हिन्दी के संसार में शायद अन्य छन्दोमुक्त काव्य न निकले तो आश्चर्य नहीं।

सुनो, मुनि को सभी श्रावकगण देखते/सुनते रहे हैं, मुनि-स्वभावी कवि अब देखने को मिले हैं। उनकी कविताओं का यह संकलन उनकी जबलपुर - प्रवास की स्मृतियों को जन - जन के मन में झंकृत करता रहेगा।

सुरेश सरल
'सरल कुटी'
293, गढ़ाफाटक, जबलपुर
(म.प्र.)

अनुक्रम

नयन नीर

प्रभु के प्रति किस मे?
इस में
प्रीति का वास है
प्रतीति पास है
पर्याप्त है यह,
अब इसकी
नयन ज्योति
चली भी जाय ।
कोई चिन्ता नहीं,
किन्तु
कहीं ऐसा न हो
कि
प्रभुस्तुति से पूर्व
प्रभु नुति से पूर्व
इसके
करुण नयनो मे
नीर कम पड जाय ।

चरण पीर

पथ और पाथेय का
परिचय क्या दूँ?
प्राय परिचित हैं
नियम से जो
आदेय दिखाते
पथ अभी
भले ही दूर हो अपरिमित ।
परवाह नहीं
किन्तु
कहीं ऐसा न हो
कि
आस्था के गवाक्ष मे से
गन्तव्य दिख जाने से
इसके
तरुण चरणो की
पीर कम पड जाय ।

पूज्य, पूजक बना

यह सतयुग नहीं है
कलि - युग है,
भीतर ही भीतर
अह को रस मिलता है ।
आज ! लक्ष्मी का हाथ
ऊपर उठा है
अभय बॉट रहा है
परसाद के रूप मे
और नीचे है
जिसके चरणों मे
शरण की अभिलाष ली
लजीली - सी
लचीली - सी
नतनयना
गतवयना
सती सरस्वती
प्रणिपात के रूप मे ।

पथ पूर्ण हुआ

वहीं अधिष्ठान है
सुख का
मृदु नवनीत जिसका पुन
मथन नहीं है
वही विज्ञान है
ज्ञान है
निज रीत
जिसका पुन
कथन नहीं है
वही उत्थान है
थान है
प्रिय सगीत
जिसका पुन
पतन नहीं है।

चिन्ता नहीं, चिन्तन

मानस का कूल है
समता का प्रकाश
अन्तिम विकास
तामसता का विलास
अन्तिम हास।
परस्पर प्रतिकूल
दो तत्व
एक बिन्दु पर स्थित है
दोनो
शुभ्र । बाहर से
क्षीर - नीर - विवेक
धीर गम्भीर एक टेक
जीवन लक्ष्य की ओर
बढ रहा है इनका
एक का
तत्व चिन्तन के साथ
और एक का
विषय - चिन्ता के साथ
एक साधु है
एक स्वादु ।

□□□

प्रार्थना और !

हे! परमात्मन्!
यह सब
आपके प्रसाद का ही
परिपाक है पावन
कि
पाँच खण्ड का प्रासाद
पास है
अप्सरा - सी भी प्यारी पत्नी
प्रमदा होकर भी
पति की सेवा मे
अप्रमदा है प्रतिपल !
प्राण - प्यारे दो - दो पुत्र
भोग उपभोग सम्पदा!!
सम्पन्न हूँ सानन्द
किन्तु
एक ही आकुलता है
कि
पडोसी का
दस खण्ड का महा भवन !
(मन मे खटकता है रात दिन !)

प्यास

पर पर फूल रहा था

बार बार

तन - रजन मे

व्यस्त रहा था

चिर से भूल रहा था

लोकैषणा की प्यास आस

मेरे आस - पास ही

घूमती थी,

जन - रजन मे

व्यस्त रहा था

क्या तो

इसका मूल रहा था

कारण अकारण ।

मन - रजन मे

मस्त रहा था

काल प्रतिकूल रहा था

भ्रम - विभ्रम से

भटकता - भटकता

मोह प्रभजन मे

त्रस्त रहा था,

किन्तु आज

शूल भी फूल रहा है

सुगधित महक रहा है

नीराग - निरजन मे,

चिर से पला

कदर्प दर्प

ध्वस्त रहा है

यह सब आपकी कृपा है

हे प्रभो!

कम बख्त!

कोई हरकत नही है
हरगिज कह सकता हूँ
यह हकीकत है
कि
हरवक्त
हर व्यक्ति का दिमाग
चलता तो है,
यदि सयत हो तो
वरदान होता है
सुख - सम्पादन मे
एक तान होता है,
किन्तु
विषयो का गुलाम हो तो
और बे - लगाम हो तो
कमबख्त ! खतरनाक
शैतान होता है ।

मन की खटिया

कृपा पालित कपालवाली
अनुभव भावित भालवाली
ओ !'आदिम सत्ता'
कृपा पात्र तो बना ही दिया इसे
चिर से
युगो युगो से चुभते थे
जीवन के गहन मूल मे
दुखद अभावो के शूल
भावो स्वभावो मे
ढले,
बदले आज वे
सुखद फूल हो गये ।
जीवन - पादप
पतित - पात था
पलित - गात था
कषाय तपन के
तीव्र ताप से
आज

सलिल का सिचन हुआ

शीतल - शीतल

अनिल का सचरण हुआ

सुर - तरु से

हरे - भरे

आमूल - चूल हो गये ,

सुरपति - पदवी

भव - भव वैभव पाने

मन की खटिया पर

वयोवृद्धा आशा

जीवित थी आज तक

दिवगत हुई वह,

अब सब कुछ बस

जीर्ण - शीर्ण तृण सम

धूल हो गये

सब के सब

मन से बहुत दूर

भूल हो गये ।

□□□

खरा सो मेरा

आम तौर से
पके आम की यही पहिचान होती है
हाथ के छुवन से
मृदुता का अनुभव
फूटती पीलिमा
तैर आती नयनो मे ।
फूल - समान नासा फूलती है
सुगन्ध सेवन से ।
फिर !
रसना चाहती है रस चखना
मुख मे पानी छूटता है
तब वह क्षुधित का
प्रिय भोजन बनता है
यही धर्मात्मा की प्रथम पहिचान है ,
मेरा सो खरा नहीं
खरा सो मेरा
वाणी मे मृदुता
तन मन मे ऋजुता
नम्रता की मूर्ति
तभी तो
भव से प्राणी छूटता है,
मुक्ति उसे वरना चाहती है
और वह उसका
प्रेम - भाजन बनता है ।

पंकिल पद

धर्म - कर्म से विमुख होकर
पाप कर्म मे प्रमुख होकर
अनुचित रूप से
धनार्जन कर
मान का भूखा बन
दान करने की अपेक्षा
समुचित रूप से
आवश्यक धन का अर्जन कर
बिना दान भी
जीवन चलाना
पुण्य की निशानी है ।
कीचड मे पद रख कर
लथपथ हो
निर्मल जल से
स्नान करने की अपेक्षा
कीचड की उपेक्षा कर
दूर रहना ही
बुद्धिमानी है ।

गिरगिट

जिस वक्ता मे
धन - कचन की आस
और
पाद - पूजन की प्यास
जीवित है,
वह
जनता का जमघट देख
अवसरवादी बनता है
आगम के भाल पर
घूँघट लाता है
कथन का ढग
बदल देता है,
जैसे
झट से
अपना रंग
बदल लेता है
गिरगिट।

पानी कौन भरे ?

इष्ट - अनिष्ट के
योगायोग मे
श्रमण का मन
अनुकूलता का
हर्ष का
प्रतिकूलता का
विषाद का
यदि अनुभव नहीं करता
तब यह नियोग है
कि उसी के यहॉ
प्रतिदिन पानी भरता है
और प्रॉगण मे
झाडू लगाता है योग
और
विराग की वेदी पर
आसानी होता है
शुचि - उपयोग
भोक्ता पुरुष।

आस अबुझ

एक हाथ में दीया है
एक हाथ की ओट दिया
हवा से बुझ न पाये
अपना श्वास भी
बाधक बना है आज,
टिम टिमाता जीवित है
जीवन - खेल
स्वल्प बचा है
दीया मे तेल
तेल से बाती का सम्बन्ध भी
लगभग टूट चुका है ,
जलती जलती
बाती के मुख पर
जम चुका है
कालुष कालिख मैल,
श्वास क्षीण है
दास दीन है
किन्तु आस अबुझ।
निज नवीन
प्रभु दर्शन की
कब हो मेल
कब हो मेल?

नरम में न रम

अरे ! मन

तू रमना चाहता है

श्रमण मे रम

चरम चमन मे रम

सदा सदा के लिए

परमनमन मे रम

चरम मे चरम सुख कहाँ?

इसलिए अब

स्वप्न मे भी भूलकर

नरम नरम मे

न रम! न रम !!

मेरा वतन

यह जो तन है
मेरा वतन नहीं है
तन का पतन
मेरा पतन नहीं है
प्रकृति का आयतन है,
जन - मन - हारक नर्तन
परिवर्तन वर्तन
अचेतन है
फिर, इसका क्यो हो
गीत गान कीर्तन ?
इतना तनातन
स्थायी बनाने का
और यतन
सब का स्वभाव शील है
कभी उत्थान,कभी पतन
मैं प्रकृति से चेतन हूँ
प्रकाश पुज रतन हूँ
सनातन हो नित - नूतन
ज्ञान - गुण का केतन मेरा वतन है
वेदन - सावेदन अनन्त वेतन है
इसीलिए मैं
बे - तन हूँ ।

क्षणिकायें !

हम तट पर ठहरे
आ रही है हमारे
स्वागत के लिए
साथ लिए,
हास्य - मुखी मालाये
लहरो पर लहरे
गरदन झुकी हमारी
झुकी ही रह गई
मन की आस मन मे
रुकी ही रह गई
पता नहीं चला
कहॉ वह गई
पल भर मे,
निडर होकर हम भी
खतरे से खतरे
गहरे से गहरे
पानी मे
उतरे / उतरते ही गये
और हमने पायी
चारो ओर जलीय सत्ता!
धीमी - धीमी श्वास भरती
हमे ताक रही चाव से

वह हमे रुचती नहीं
और हम
खाली हाथ लौटते - लौटते
यकायक सुनते हैं
कुछ सूक्तियॉ,
कि
प्रकृति को मत पकडो
पर। परखो उसे
वे क्षणिकाये है
पकड मे नहीं आतीं
भ्रम - विभ्रम की जनिकाये हैं,
तुम पुरुष हो, पुरुषार्थ करो
कभी न होना
किसी से प्रभावित
भावित सत् से होना 'जो है'
इसी विधि से कई पुरुष विगत मे
उस पार उतरे हैं
और निराशता के बदले आज
गहन गंभीरता से
भर भर भरे जा रहे
हमारे ये चेहरे ।

□□□

चुनाव !

डूबता हुआ विश्व
पा जाये
कूल - किनारा
और एक
तरण - तारण
नाव मिली प्रभु से
उस पर कौन - कौन आरूढ हुआ ?
प्रभु जानते हैं
और अपना - अपना मन ।
पता नहीं
आज वह नाव
जीवित है क्या? नहीं
किन्तु नाव की रक्षा हो
एतदर्थ
एक परियोजना हुई
और वह जीवित है
चुनाव ।

हरिता की हँसी

गन्ध की प्यास थी जिसे
तरग क्रम से आई
हवा मे तैरती, सुरभि सूँघती
फूली नासा से पूछती हैं
चचल ऑखे,
कौन - सी सवेदना मे डूबी है?
जिसका दर्शन तक
नहीं हो रहा है
यहॉ भी है स्वाद की भूख
नासा फुस - फुसाती है
कहॉ भाग्यवती हो तुम !
मकरन्द का स्वाद ले सको
प्राप्त को नहीं, अप्राप्य को
निकट से नहीं, दूर से
निहारती हो तुम ! सीमित !
दिखाती हूँ, चलो तुम साथ
और फूला फूल
तामसता की राग - राजसता की

रक्ताभ ले व्यगात्मक
इतरो का उपहास करता
हॅसता दर्शित हुआ,
पर! ऑखे
घबराती सी कहती हैं
सब कुछ रुचता है
सब मे मृदुता है
पर !
रक्ताभ राजसता
चुभती है हमें
और कलियो का
जो हरीतिमा से भरी
चुम्बन लेती
प्रभु से प्रार्थना करती है
हे! हर्ष - विषाद - मुक्त
हरि - हर!
हर हालत में
हर सत्ता से
हरीतिमा - हरिताभ
फूटती रहे
हॅसती रहे
धन्य!

छुवन !

प्रकृति प्रमदा
प्रेम वश
पुरुष से लिपटी
हरिताभ हँस पडी
प्रणय कली
महकी गन्ध भरी
खुल - खिल पडी
रक्ताभ लस रही
किन्तु !
पुरुष सचेत है
वह डूबा नहीं
प्रकृति जिसमें डूबी है
पुरुष की आँखों मे
हीराभ - मिश्रित
नीलाभ बस रही ।

सत्य, भीड़ में !

कहाँ क्या? था विगत में
ज्ञात नहीं
अनागत का गात भी
अज्ञात ही
आगत की बात है
अनुकरण की नहीं
जहाँ तक सत्य की बात है
देश विदेश मे भारत मे भी
सत्य का स्वागत है
आबाल वृद्धों, प्रबुद्धो से
किन्तु
खेद इतना ही है
कि
सत्य का यह स्वागत
बहुमत पर
आधारित है ।

तुम कण, हम मन

मन का इंजन है
तन धावमान है
इंगित पथ पर,
पर ! उलझन मे मन है
कभी करता है 'था' में गमन !
कभी सम्भावित मे
भ्रमण - चक्रमण
कब करता है? भावित रमण !
कभी विमन रहता
कभी सुमन
श्रमण का भी मन
और कुछ भूला सा
विगत में लौटा है
दयार्द्र कण्ठ है
कुछ कहना चाहता है
कण्ठ कुण्ठित है
लौट आ आशु गति से
तन से कहता मन
तुम साथ चलो

हम तीनो अपराधी हैं
तन वचन और मन
और तीनो आ
सविनय कहते हैं
पद दलित ककरो को
तुम लघुतम कण हो
निरपराध हो,
हम गुरुतम मन हो
सापराध हैं
तुम पर पद रख कर
हिंसक हो, अहिंसक से
पथ चलते गये,
पर !
प्रतिकूल गये
भूल के लिए
क्षमा याचना तक
भूल गये,
लौट आये हैं
अपराध क्षम्य हो
अब ककर बोलते हैं
अपने मुख खोलते हैं
अपने आचरण पर
फूट फूट रोते हैं
नहीं नहीं कभी नहीं

इस विनय को हम स्वीकारते नहीं
अन्यथा धरती माँ
धारण नहीं करेगी हमे
नीचे खिसकेगी
सब सीमा - मर्यादाये
ठस होगी
तारण - तरणो की
चरण - शीलो की
चरण - रज
सर पर लेनी थी ,
हाय! किन्तु
कठिन कठोर हैं
अधम घोर हैं
हम सब
तीन पहलूदार तीखे
त्रिशूल शूल हैं
हम स्थावर हैं
परम पामर हैं
निर्दय हृदय शून्य ,
तुम चर हो जगम
चराचर बन्धु !
सदय हो अभय - निधान
सत्पथ पर यात्रित हो

पदयात्री हो
कर पात्री हो,
लाल लाल हैं
कमल चाल है
युगम पाद तल
तुम सब के ,
छिल गये है
जल गये हैं
लहूलुहान हो
और ललाई मे
ढल गये है
जिनमे
गोल गोल ऑवले से
फफोले फोले
पल गये हैं
यह कठोरता की
कृपा है हमारी
अपवर्ग पथ पर चलते तुम
उपसर्ग हुआ
हमसे तुम पर
उपकार दूर रहा
अपकार भरपूर रहा
तुम्हारे प्रति हमारा,

अपराध क्षम्य हो
तुम लौट आये
कृपा हुई हम पर
हम अपद है
स्वपद हीन
कैसे आते चलकर तुम तक,
स्वीकार करो अब
शत शत प्रणाम
और आशीष दो
हम भी तुम सम
शिव - पथ पथिक
गुणो मे अधिक
बन सके
और
साधना की ऊँचाइयॉ
शीघ्रातिशीघ्र चढ सके
बन सके हम
अन्ततोगत्वा
तुम सम श्रमण
और चमन।

□□□

हुंकार अहं का

कृति रहे
सस्कृति रहे
चिरकाल तक
मात्र। जीवित ।
सहज प्रकृति का
शृगार श्रीकार
मनहर आकार ले
जिसमे आकृत होता है,
कर्ता न रहे
विश्व के सम्मुख
विषम विकृति का
अपार ससार
अहकार का हुकार ले
जिसमे जागृत होता है
और हित
निराकृत होता है ।

मिलन नहीं; मिला लो !

काया के मिलन से
माया के छलन से
ऊब गया है यह
भटकता भटकता
विपरीत दिशा मे
खूब गया है यह
सहचर हैं बहुत सारे
पर !कैसे लूँ ?
सहयोग उनसे
अधो से कधो का सहारा
मिल सकता है
किन्तु
पथ का दर्शन - प्रदर्शन संभव नहीं है
यह भी अधा है
इसे ऑख मत दो भले ही
मत दो प्रकाश
किन्तु
हस्तावलम्बन तो दो !
इसे ऊपर उठा लो गर्त से
और मिलन नहीं
अपने आलोक मे मिला लो
हे सब द्वन्द्वो से अतीत !
अजित ! अभीत !

□□□

रंगीन व्यंग

बालक और पालक
दो दर्शक हैं
हरित - भरित
मनहर परिसर है
सरवर तट है
श्वास - श्वास पर
तरग का
प्रवास चल रहा है
अतरग गा रहा है
तरग - रग
भा रहा है
तभी तो
बालक का प्रतिपल
प्रयास चल रहा है
बहिरग जा रहा है
तरग पकड़ने,
और निस्संग तट मे
फेन का बहाना है
हास चल रहा है
या उपहास चल रहा है ?
बालक पर क्या ? पालक पर
पता नहीं किस पर?

□□□

मन की मौत

स्मृति का विकास
विज्ञता का
स्मृति का विनाश
अज्ञता का
प्रतीक है,
यह मान्यता
लौकिक है
अलौकिक नहीं
इसीलिए यह
अलीक है किन्तु
स्मरण का मरण ही
यथार्थ ज्ञान है ।

प्रलय काल !

अन्याय की उपासना कर
वासना का दास बनकर
धनिक बनने की अपेक्षा
न्याय मार्ग का उपासक बन
धनिक नहीं बनना भी
श्रेष्ठतम है,
किन्तु
अकर्मण्यता
मानव मात्र को
अभिशाप है
महा पाप है
कारण ।
अन्याय से जीवन बदनाम होता है
न्याय से नाम होता है
जीवन कृतकाम होता है
जबकि
अकर्मण्य की छाँव मे
जीवन तमाम होता है ।

पेट से पेटी

अन्न पान से
पेट की भूख
जब शान्त होती है
तब जागती है
रसना की भूख
रस का मूल्याकन ।
नासा सुवास मॉगती है
ललित - लावण्य की ओर
ऑखे भागती है
श्रवणा उतारती
स्वरो की आरती है
मन मस्ताना होता है
सब का कपताना होता है
आविष्कार कपाट का होता है
अन्यथा
फण - कुचली घायल नागिन सी
बिल से बाहर
निकलती नहीं हैं
ये इन्द्रिय - नागिन ।

बोझिल पद

कभी कभी
आशा निराशता मे
घुल जाती है ,
हे प्राणनाथ !
अन्तिम ऊँचाई है वह
लोक शिखर पर बसे हो,
अन्तिम सिचाई है वह
अनुपम द्युति से लसे हो
यह भी सत्य है, कि
अन्तिम सिचाई है वह
कमल फूल से हँसे हो
किन्तु तुम्हे
निहार नहीं सकता
ऊपर उठाकर माथा
दूरी बहुत है
तुम तक विहार नहीं हो सकता
पद यात्री है यह
इसलिए
इसकी दृष्टि से
ओझल हो गये हो।
कारण विदित ही है
इसके माथे पर
चिर सचित पाप का भार है
फलस्वरूप
इसके पद बोझिल हो गये हैं
और तुम
ओझल हो गये हो ।

सन्धि, अन्धी से

इस बात को स्वीकारना होगा
कि
ऑख के पास
श्रद्धा नहीं होती है क्योकि
जब कुछ नहीं दिखता एकान्त मे
ऑखे भय से कपती हैं,
और !
श्रद्धा !!
अन्धी होती है,
किन्तु
श्रद्धा के पास
उदारतर उर होता है
जिसमे मधुरिम
सुगन्धि होती है
प्रभु का नाम जपती है,
तभी तो सहज रूप से
अज्ञेय किन्तु
श्रद्धेय प्रभु से
सन्धि होती है
श्रद्धा! अन्धी होती है ।

काया, माया

वह गृहस्थ
जिसके पास
कौडी भी नहीं है
कौडी का नहीं है
वह श्रमण
जिसके पास
कौडी भी है ।
कौडी का नहीं है
एक की शोभा
माया है
राग रग
और एक की
मात्र काया
त्याग सग ।

□□□

समता !

भुक्ति की ही नहीं
मुक्ति की भी
चाह नहीं है
इस घट मे,
वाहवाह की
परवाह नहीं है
प्रशसा के क्षण मे
दाह के प्रवाह मे अवगाह करूँ
पर ! आह की तरग भी
कभी न उठे
इस घट मे . सकट मे
इसके अग – अग मे
रग – रग मे
विश्व का तामस आ
भर जाय
किन्तु विलोम – भाव से,
यानी!
ता म स / स. म ता !

दयालु पंजे !

खर नखरदार
जिसके पजे हैं
कभी चूहो का,
शिकार खेलती है
कभी प्राण प्यारे
सतान झेलती है
जिन पजो मे
प्यार पलता है
उन्हीं पजो मे
काल छलता है
ऐसा लगता है
किन्तु पजे आप
हिंसक है, न अहिंसक
प्राण का पलना
काल का छलना
यह अन्तर घटना है
बाहर अभिव्यक्ति है
तरग पक्ति है
घटना का घटक
अन्दर बैठा है
अव्यक्त – व्यक्ति है वह,
उसी पर आधारित है यह
वही विश्व को बनाता भुक्ति
वही दिलाता विश्व को मुक्ति
हे। भोक्ता पुरुष।
स्वय का भोग कब करेगा?
निश्छल योग कब धरेगा?

द्विमुख पंथी !

सम्यक् साधन हो
सत् शक्ति हो
समाराधन हो
सद् भक्ति हो
अमूर्त भी साध्य
मूर्त हो उठता है
अमूर्त आराध्य
स्फूर्त हो उठता है,
यह सदुक्ति चरितार्थ होती तब,
'एक पथ दो काज'
असम्भव कुछ नहीं
बस! सब कुछ सम्भव है
भुक्ति और मुक्ति
युगपत् ताकती है उसे
सत्पथ का पथिक बना है
किन्तु
द्विमुख पथी 'सो'
पथ पर चल नहीं सकता
अनन्त का फल चख नहीं सकता ।

□□□

संन्यास !

बहुतों के मुख से यही सुनता आया था
विश्वस्त हो यही गुनता आया था
कि
सबसे नाता तोडना
वन की ओर मुख मोडना
सन्यास है,
किन्तु आज
गुरु कृपा हुई है
ठीक पूर्व से विपरीत
विश्वास हुआ है
सन्यास का अहसास हुआ है,
कि
बिना भेद भाव से
बिना खेद भाव से
बस मात्र
एक साथ
सब के साथ
साम्य का नाता जोडना
और 'मैं' को
विश्व की ओर मोडना ही
सही सन्यास है।

□□□

मोम बनूँ मैं

वरद हस्त जो रहा है
इस मस्तक पर
हे गुरुवर !
कठिन से कठिनतर
पाषाण हृदय भी
मृदुल मोम हो गए,
दुख की आग बरसाते
प्रचण्ड प्रभाकर भी
शरद सोम हो गए,
विरोध की ज्वाला से जलते
विलोम वातावरण भी
अनुलोम हो गए
चेतना की समग्र सत्ता
भय से सकोचित, मूर्च्छित थी आज तक
अब वह अभय - जागृत
पुलकित रोम - रोम हो गए,
प्रति - धाम से
प्रति - नाम से
मधुर ध्वनि की तरग आ रही है
श्रवणो तक
बस! वह सब
सुखद ओम् हो गए ।

कुटिया !

ओ री ! कलि की सृष्टि
कलि से कलुषित
कलकिनी दृष्टि !
सदा शंकिनी !
अवगुण - अंकिनी !
कभी - कभी तो
गुण का चयन किया कर !
तेरी वकिम दृष्टि मे
केवल अवगुण ही झलकते हैं क्या ?
यहाँ गुण भी बिखरे है
तरतमता हो भले ही
ऐसा कोई जीवन नहीं है
कि
जिसमे
एक भी गुण नहीं मिलता हो
नगर - उपनगर मे
पुर - गोपुर मे
अभ्रलिह प्रासाद हो
या कुटिया
जिसके पास
कम से कम एक तो
प्रवेश द्वार
होता अवश्य !

अनमोल की आस

याचना का चोला पहना
यातना का पहना गहना
आँगन आँगन
कितने प्राँगण ?
घूमा है यह
सुख - सा कुछ
मिलता आया
और मिटता आया
सुख मिटता आया
सुख की आस अमिट ।
आज तक ।
अमित मिला नहीं
अमिट मिला नहीं
हे! अनन्त सन्त
अब मोल नहीं
अनमोल मिले ।

माहोल की प्यास

ओ ! श्रवणा
कितनी बार
श्रवण किया,
ओ ! मनोरमा
कितनी बार
स्मरण किया
कब से चल रहा है
संगीत - गीत यह
कितना काल व्यतीत हुआ
भीतरी भाग भीगे नहीं
दोनो अग बहरे
कहाँ हुए
हरे भरे !
हे ! नीराग हरे !
अब बोल नहीं
माहोल मिले ।

संयत आँखें

डाल - डाल के
गाल - गाल पर
लाल - लाल है
फूल गुलाब !
फूल रहे हैं
लज्जा की घूँघट
खोल - खोल कर
अधर मे डोल रहे
मार्दव अधरो पर
कल - कमनीयता
भीतरी सवेदन
रहस्मय बोल
बोल रहे हैं
अनमोल रहे
या मोल रहे
यह एक प्रश्न है
दर्शकों के सम्मुख
और उस ओर
पराग प्यासा
सुगन्धभोजी

भ्रमर दल ने

अपलक

एक झलक

दृष्टिपात किया

बस । धन्य ।

इतने से ही

ऑखो का पेट भर गया

तृप्ति का अनुभव,

अपने मे

रूप - रग समेट कर

पलक बन्द हुए

और रसना

गुनगुनाती

प्रारम्भ हुआ

गुण - गान - कीर्तन

हाव - भाव

टुन... टुन . नर्तन,

किन्तु नासा की भूख

दुगुनी हुई

गध से मिलने

बातचीत करने

लालायित है

उतावती करती - करती
गम्भीर होती जा रही है
जैसे कहीं
विषयी उपस्थित होकर भी
विषय अनुपस्थित हो,
अब नासा,
अपनी अस्मिता पर
शकित होती
कि
इस समय
मैं हूँ क्या नहीं?
यदि हूँ तो,
गध का स्वाद
क्यो नहीं आता
जब कि गधवान्
उपस्थित है सम्मुख
इसी बीच स्पर्शा भी इस विषय मे
सकिय होती
अपनी तृषा बुझाने,
जब वह छुवन हुआ
स्पर्शा ने घोषणा कर दी

कि
यहॉ प्रकृति नहीं है
मात्र प्रकृति का अभिनय है
या प्रकृति का अविनय है
माया छल
ये फूल तो है
पर । कागद के हैं
तब तक
नासा की आसा
निराशता मे लज्जावश
डूबती चली
फलस्वरूप
भ्रम विभ्रम से
भ्रमित हुआ
भ्रमर - दल
उड चला वहॉ से
गुनगुनाता, कहता जाता
कि
सत्य की कसौटी
नेत्र पर नहीं
सयम - नियत्रित
ज्ञान - नेत्र पर
आधारित है ।

□□□

नाटक

सारा का सारा
यह ससार
केवल है
एक विशाल नाटक
तू इसमें
भाँति - भाँति के भेष धर
भाग ले,
तू इसे खेल
कोई चिन्ता नहीं
किन्तु
इस बात का भी ध्यान रख
इसमे तू
कभी
भूल कर भी
ना अटक ।

सरगम स्वरातीत

सत् से जन्म ले
सत् मे छद्म ले
हरदम होती हो
हरदम खोती हो,
कभी - कभी
अभाव के घाव पर
मरहम होती हो
स्वरातीत भाव पर
सरगम होती हो
केन्द्र को छोड कर
परिधि की ओर
दौड रही हो,
अनन्त को छोड कर
अवधि की ओर
मोड रही हो स्वय को
ओ! लहरो पर लहरे
रजत राजित गरजे
उत्तर दो !
इस ओर भेजकर
सरलिम तरलिम नजरे ।

बधिर बनूँ

निर्गुण से मिलने का
वार्ता विचार - विमर्श कर
तदनु चलने का
सगुण परमात्मा मे
भावुक - भाव
उभर आया है
और इधर
सघन नीलिमा ले
नील गगन
नीचे की ओर
उतर आया है
बीच मे बाधक बनकर
साधक के साधना - पथ पर
तभी तो
कहीं नियति ने भेजी है
बाधा दूर करने
अरुक अथक
अविरल उठती आ रही हैं
लहरो पर लहरे
इनकी ध्वनि
वे ही सुन सकते
जो वैषयिक क्षेत्र मे
बने हैं पूर्ण बहरे ।

चख जरा

शाश्वत निधि का
भास्वत विधि का
धाम हो
राम, अभिराम हो
क्यो बना तू!
रावण सम
आठो याम
दीन - हीन
पाप - प्रवीण,
'है' उसे
बस लख जरा
बहुत दूर जाकर
चेतना में
लीन हो
सुधा - पीयूष
बस ! चख जरा।

अवतार !

उतरा धरा पर
चिद्‌विलास
मानव बन
करनी कर
मानव - पन पा
मानव पनपा,
तू मान वही
मान प्रमाण का पात्र बना
पायी अन्तिम शान्ति
विश्रान्ति
फिर वहाँ से लौटा कहाँ ?
लौटना अशान्ति
क्लान्ति, भटकन भ्रान्ति है
दुग्ध का विकास होता है
घृत का विलास होता है
घृत का लौटना किन्तु
दुग्ध के रूप मे
सम्भव नहीं है ।

छले छाँव में

काया की नाव मे पले है

माया की छॉव मे छले हैं

हम तो निरे

अनजान ठहरे

इतने विचार

कहाँ हों गहरे

नहरो से पूछे

या लहरो से

कहॉ से आती कहॉ जाती

ये लहरे?

लहरो पर लहरे हैं

क्या? लहरो मे लहरे।

कैंची नहीं, सुई बन

चिर से बिछुडे
दो सज्जन मिलते हैं
वृद्धावस्था मे
परस्पर प्रेम वार्ता होती है
गले से गले मिलते हैं
गद्‌गद कण्ठ से
एक ने पूछा एक से
तुमने क्या साधना की है
पर के लिए और अपने लिए ?
उत्तर मिलता है
द्वैत से अद्वैत की ओर बढना हो
टूटे दो टुकडो को
एक रूप देना हो
तो सुनो
सुई होना सीखा है ।
फिर दूसरे ने भी पूछा
इस दीर्घ जीवन मे
ऐसी कौन सी साधना की तुमने
फलस्वरूप सब के स्नेह भाजन हो

उत्तर मिलता है
कि
कर्म के उदय मे
जो कुछ होना सो होना है
सो धरा - सा
जरा होना सीखा है
दूसरों के सम्मुख
अपनी वेदना पर
भला ! रोना ना सीखा है
हाँ !
दूसरा आ अपनी
व्यथा - कथा
सुनाता हो रोता हो
यह मन भी व्यथित हो रोता है
और तत्काल
उसके आँसू
जरा धोना सीखा है ।

मौन मालती

ओ री मानवती
मृदुल मालती
क्यों न मानती,
मुड मुड कर
मोहक - मादक
मदिरा भर कर
प्याला ले कर
मेरे सम्मुख
आती है
अपना ही गीत
गाती है
तू रागिनी है
स्वैर विहारिणी है
विरागनी यह मति
बाध्य होकर
बाहर आती है
नाक फुलाती – सी
नासिका कहती यूँ
तभी मालती भी

गूढ तत्त्व का उद्घाटन
करती है
मौन रूप से
कि
ज्ञेय तत्त्व भिन्न है
ज्ञान तत्त्व भिन्न है
ज्ञेय का अपना रूप
स्वरूप है,
क्रिया - कर्म है
ज्ञान का अपना भाव - स्वभाव है
गुण धर्म है
यद्यपि
ज्ञेय - ज्ञायक सम्बन्ध है हम दोनो मे
ज्ञान जानता है
ज्ञेय जाना जाता है
किन्तु ज्ञान जब तक
निज को तज कर
पर को अपना विषय बनाता है
निश्चित ही वह
सराग है सदोष तब तक
पर का आदर करता है
अपना अनादर,

तब,'पर' पर आरोप आता है

कि

पर ने राग जमाया

ज्ञान मे दाग लगाया

मैं तो अपने में थी

हूँ रहूँगी चिर काल ।

किन्तु तू

ओ री नासिका ।

तू ज्ञान की उपासिका कहाँ है?

ज्ञान की उपहासिका है

अपनी सुरभि भूल जाती है

पर सुगन्धि पर फूल आती है

यह कौन सी विडम्बना है

स्वय को धोखा देना ।

बादल धुले

धरती को प्यास लगी है
नीर की आस जगी है
मुंख - पात्र खोला है
कृत - सकल्पिता है,
कि
दाता की प्रतीक्षा नहीं करना है
दाता की विशेष समीक्षा नहीं करना है
अपनी सीमा
अपना ऑगन
भूल कर भी नहीं लॉघना है,
क्योकि
पात्र की दीनता
निरभिमान दाता मे
मान का आविर्माण कराती है
पाप की पालड़ी भारी पडती है,
और ।
स्वतन्त्र स्वाभिमान पात्र मे
परतन्त्रता आती है
कर्त्तव्य की धरती
धीमी धीमी नीचे खिसकती है,

तब।

लटकते दोनों अधर में

तभी तो

काले - काले

मेघ सघन ये

अर्जित पाप को

पुण्य मे ढालने

जो सत्पात्र की गवेषणा मे निरत हैं

पात्र के दर्शन पाकर

गद्‌गद हो

गडगडाहट ध्वनि करते

सजल - लोचन

सावन की चौंसठ - धार

पात्र के पाद - प्रान्त मे

प्रणिपात करते हैं

फिर तो

धरती ने बादल की कालिमा

धो डाली

अन्यथा

वर्षा के बाद

बादल - दल

विमल होते क्यों?

□□□

मुक्तिका

क्यो मुग्ध हुआ है
शुक्तिका पर
शुक्ति का खोल
एक बार तो झॉक ले
और ! ऑक ले
भीतर की मुक्तिका पर
सदा - सदा के लिए
अवश्य मुग्ध होगा !
कहॉ भटकता तू
बीहड जगल मे
बाहर नहीं
हे सन्त !
बसन्त बहार
भीतर मगल मे है।

तोता क्यों रोता ?

प्रभाकर का प्रचण्ड रूप है
चिल - चिलाती धूप है
निदाघ का अवसर है
भरसक प्रयास चल रहा है
सरपट भागना चाह रहा है
पर ! भाग नहीं पा रहा है भानु
सरक रहा है धीमे - धीमे
अस्ताचल की ओर
और इधर
सरफट रहा है
फल भार ले झुका है
तपी धरा पर नग्न - पाद
आम्र - पादप खडा है
अपने प्रागण मे
दाता के रूप मे
पात्र की प्रतीक्षा है
लो ! पुण्य का उदय आया है
कठिन परिश्रमी
हरदम उद्यमी
पदयात्री पथिक
पथ पर चलता - चलता

रुकता है निस्संकोच
सघन छाँव मे
घाम - बचाव मे
किन्तु यकायक
दाता का मन पलटता है
विकल्प - विकार से लिपटाता है
कि
पात्र के मुख से
वचन तो मिले
मीठे मीठे
मिश्री मिले
प्रशसा के रूप मे,
महान दाता हो तुम
प्राण - प्रदाता हो तुम
और दान - शास्त्र की
जीवन गाथा हो तुम !
आदि - आदि,
अथवा
कम से कम खडे खडे
दीन - हीन से
याचना तो करे
दोनों हाथ पसार

अपना माथ सँभार
और दाता को
मान - सम्मान से पुरस्कृत करे
कुछ तो करे
दाता कुछ देता है
तो प्रतिफल के रूप मे
कुछ लेना भी चाहता है
लेन - देन का जोडा है ना !
लो! सतो की वाणी भी
यही गाती है
परस्परोपग्रहो जीवानाम्
अस्तु!
और!
मौन सघन होता जा रहा है
अपना अपना कर्त्तव्य
गौण नगन होता जा रहा है
इस स्थिति मे
कौन? रोक सकता है इस प्रश्न को
कि
कि कौन? विघन होता जा रहा है
दाता की मुख - मुद्रा

हृदय को अनुसरण कर रही है

और भाव - प्रणाली

ललाट - तल पर आ

तरल तरगायित है

भ्रमित भगायित है

जो कुछ है वितरण कर रही है,

और इसी बीच

अयाचक वृत्ति का पालक पात्र

मौन मुद्रा से

समयोचित भावाभिव्यक्ति

सहज - भाव से करता है

कि,

हे आर्य!

दान देना

दाता का कार्य है

प्रतिदिन अनिवार्य है

यथाशक्ति

तथाभक्ति

मान - सम्मान के साथ,

पाप को पुण्य मे ढलना है ना!

और यह भी सत्य है

पात्र मान - सम्मान के बिना

दान स्वीकार नहीं करेगा,

कारण विदित ही है

दान क्रिया में दाता
प्राय: मान करता है
अह का पोषक बनता है
और पात्र यदि
दीनता की अभिव्यक्ति करता है
स्वधीनता को शोषक बनता है
किन्तु!
मोक्ष - मार्ग मे
यह अभिशाप सिद्ध होता है
इससे विरुद्ध चलना
वरदान सिद्ध होता है
इसलिए
समुचित विधान यही है
दान से पूर्व मान - सम्मान हो
वह भी भरपेट हो
बाद में दान
भले ही अल्प/अधपेट हो
सहर्ष स्वीकार है
और यह भी ध्यान रहे
याचना यातना की जनी है
कायरता की खनी है
इस पात्र को
कैसे छू सकती है वह
यह वीरता का धनी है
सदा - सदा के लिए

इसमे धीरता आ ठनी है
लो ! और यह कैसा विस्मय!
फलों की भीड से घिरा
नीड मे बैठा बैठा
निस्सग तोता
इस मौन वार्ता को पीता है
जो मासाहार से रीता
जीवन जीता है
स्वैरविहारी है
फलाहारी है
अतिथि की ओर निहारता है अनिमेष !
मन ही मन विचारता है
अभूतपूर्व घटना है मेरे लिए
प्रभूत पुण्य मिलना है मेरे लिए
और सुरभि से निरा महकता
सुन्दरता से भरा चहकता
पक्व रसाल चुनता है
अतिथि के लिए
दान हेतु,
किन्तु
तत्काल क्या हुआ
सुनो तुम!
मनोविज्ञान मे निष्णात जो है
अतिथि की ओर से
मौन भाषा की शुरूआत और होती है
कि

यह भी दान स्वीकार नहीं है इसे
यद्यपि इसमें
पूर्व की अपेक्षा
मान - सम्मान का पुट है
और भरपूर है,
किन्तु !
दाता दान को मजबूर है
पात्र को देखकर
और!
पर पदार्थ को लेकर
पर पर उपकार करना
दान का नाटक है
चोरी का दोष आता है
यदि अपनत्व का दान करते हो
श्रम का बलिदान करते हो
स्वीकार है,
अन्यथा यह सब वृथा है
तथा स्व - पर के लिए
सर्वथा व्यथा है।
दान की कथा सुनकर
मूक रह जाता तोता
भीतर ही भीतर
उसका मन व्यथित होता है
अकर्मण्य जीवन पर रोता है
तन भी मथित होता है उसका,
और !

सजल लोचन कर
निजी आलोचन कर
प्रभु से प्रार्थना करता है
अगला जीवन इसका
श्रम - शील बने
शम - झील बने
और! बहुत विलम्ब करना उचित नहीं
अतिथि लौट न जाये
खाली हाथ !
ऐसा सोचता हुआ
उसी पल एक
पका फल
अननुभूत भाव से
अपने आपको
भरा हुआ सा
अभिभूत अनुभूत करता है
पूत सफलतीभूत बनाने
जीवन को दान - दूत बनाने
जिसमे नव - नवीन भाव
प्रसूति होता है
कर्त्तव्य के प्रति
प्रस्तुत करता है
अतिथि का रूप निरख कर
अतिथि का स्वरूप परख कर
जीवन को दिशा मिल गई,
चिर से तनी

और घनी निशा टल गई
दान की उपासना
जागृत हुई
मान की वासना
निराकृत हुई
राग विराग से मिलने
आकुल है
पक पराग से मिलने
आतुर है
और बन्द अधर खुलते हैं
शब्द अधर डुलते है
आगत का स्वागत हो
अभ्यागत आदृत हो
सेवा स्वीकृत हो
सेवक अनुगृहीत हो
हे स्वामिन्! हे स्वामिन्! हे स्वामिन् !
और दान कार्य सम्पादन हेतु
सहयोग के रूप मे पवन को
आहूत करता है
वन - उपवन - विचरणधर्मा
तत्काल आता है पवन
फल से पूर्व - भूमिका विदित होती है उसे
कि
ये पिता हैं (वृक्ष की ओर इगन)
इनका पित्त प्रकुपित है
तभी मुझ पर कुपित है

ऑगन मे अतिथि खडे है
ये अपनी धुन पर अडे है
स्वय दान देते नहीं
देने देते नहीं,
गान प्रबल है इनका
ज्ञान समल है इनका
मेरे प्रति मोह है
पर के प्रति द्रोह है
क्या ? पूत को कपूत बनाना चाहते है ये
पूत पवित्र नहीं,
और पवन को इगित करता है पका फल
मै बन्धन तोडना चाहता हूँ
इस कार्य मे सहयोग अपेक्षित है
'समझदार को इशारा काफी है'
सूक्ति चरितार्थ हुई,
और पवन ने
एक हल्का सा
झोका दे दिया
प्रकारान्तर से
वृक्ष को धोखा दे दिया
रसाल फल
डाल से खिसक कर
शून्य मे दोलायित हुआ
अर्पित होने, लालायित हुआ
चिर के लिए बन्धन क्रन्दन

पलायित हुआ,
पुन पवन को समझाता है
मुझे इधर उधर नहीं गिराना
सीधा बस।
पात्र के पाणि - पात्र मे गिराना
और एक झोका देने पर
डाल के गाल पर ।
फल, कर मे आ पात्र के
अर्पित होता है,
स्वप्न साकार होता है
और सत्कार्य मे भाग लेकर
पवन भी बडभागी बनता है
पाप - त्यागी बनता है।
सज्जन समागम से
रागी विरागी बनता है
नीर, क्षीर मे गिरता है
शीघ्र क्षीर बनता है,
और पथ पर
सहज चाल से पूर्ववत्
चल पडा वह अतिथि
उधर डाल के गाल पर
लटकता अधपका
फलो का दल
बोल पडा

कि
कल और आना जी ।
इसका भी भविष्य उज्ज्वल हो
करुणा इस ओर भी लाना जी ।
अतिथि की हल्की - सी मुस्कान
कुछ बोलती सी ।
यह भविष्य मे जीता नहीं
अतीत का हाला पीता नहीं
यही इसकी गीता है
सरगम - सगीता है,
देखो ! क्या होता है
जिसके बीच मे रात
उसकी क्या बात ?
और वह देखता रह जाता फलो का दल
सुदूर तक दिखती
अतिथि की पीठ
पुनरागमन की प्रतीक्षा मे

गीली आँखें

इसे निर्दयता कहना
अनुचित होगा
अपनी चरम - सीमा सूँघती हुई
निरीहता नितान्त है
निरभ्र - नभ मे
पूत - प्रतिमा सी पीठ
प्रतिफलित है
ध्रुव की ओर उठते चरण दिख रहे
किन्तु सारी करुणा सिमट कर
ऑखो मे चली गई है
वे ऑखे और कहॉ दिखतीं कहॉ दिखतीं
और कहॉ देखती
मुड कर इसे
नीली ऑखे!
और ईहा की सीमा पर
आकुल अकुलातीं
इसकी दोनो
पीली - पीली
हो आती
गीली ऑखे।

हास्य के कण

वह कौन - सा मानस है
जिसके भीतर
कुछ अपूर्व घट रहा है
जिसका उद्घाटन
उठती हुई लहरों पर लहरे
करती जा रही हैं,
हर लहर पर
हास्य के कण
बिखरे है बिखरते जा रहे है
और यह भी मानस
जिसके नस - नस
जल रहे है
इसके भीतर
बडवानल उबल रहा अभाव का,
तभी तो जीवन सत्त्व
राख बने,
काले काले बाल के मिष
बाहर आ उभरे हैं
जिन पर मोहित है
शाम सवेरे
जहरीली नजरे

सातत्य

मृदु मजुलता
ललित लता पर
कल तक थी
मुकुलित कली
आज उषा मे
खुली खिली है
और सुषमा
सुरभि लेकर।
कल रहेगी
काल - गाल मे
कवलित होकर ।
किन्तु सत् की
कमनीयता वह
सातत्य ले साथ
सब मे ढली है
उसकी छवि
किसे मिली है?

आभा की डूब

जहॉ तक आभा की बात है
वह निश्चित
प्रकृति की गन्ध है,
जो
पुरुष की पकड मे
इन्द्रियो के आधार से
आज तक आई है,
चाहे नीलाभ हो
या हीराभ!
चाहे हरिताभ हो
या रक्ताभ,
किन्तु आज यह
इस पुरुष को पकडना चाहती है
जो सब अभावो से
अतीत हो जी रहा है।

श्री १०८ आचार्य विद्यासागर महाराज

निजानुभव शतक

निजानुभव शतक

बसंततिलका छन्द

जो जानते सकल लोक तथा अलोक,
ना-मान यान परिरूढ सदा अशोक।
ऐसे महेश, वृषभेश, प्रभो! जिनेश,
रक्षा करें मम, मुझे सुख दे विशेष।।१।।

थे ज्ञानसागर गुरु मम प्राण प्यारे,
थे पूज्य साधु गण से बुध मुख्य न्यारे।
शास्त्रानुसार चलते, मुझ को चलाते,
बन्दूँ उन्हे विनय से, शिर को झुकाते।।२।।

वाणी जिनेन्द्र - कथिता दुखहारिणी है,
सत्रस्त भव्य जन को सुखदायिनी है।
तेरा करूँ स्तवन मैं अयि अंबदेवी!
तो शीघ्र ही बन सकूँ निज आत्मसेवी।।३।।

सम्बोधनार्थ निज को कुछ मैं लिखूँगा,
शुद्धोपयोग जिससे द्रुत पा सकूँगा।
सन्ताप, पाप, सपने अपने तजूँगा,
तो वीतरागमय भाव सदा भजूँगा।।४।।

है जीव का अमिट जो उपयोग रूप,
होता वही विविध है, जड से अनूप।
शुद्धोपयोग जब हो भव का वियोग,
दे स्वर्ग, मोक्ष क्रमवार शुभोपयोग।।५।।

देता अतीव दुख है अशुभेपयोग,
ऐसा सदैव कहते बुध सन्त लोग।
सारे सुधी अशुभ को तज योग धारे,
पाये पवित्र पद को शिव को पधारे।।६।।

मिथ्यास्वरूप वह है अशुभोपयोग,
सम्यक्त्व रूप यह सत्य शुभोपयोग।
ससार हो प्रथम से सहसा अनन्त,
दूजा परीत कर दे अयि देव सन्त!।।७।।

ससार क्षार जल मे वह है गिराता,
शुद्धोपयोग पय को यह है पिलाता।
रे! काल - कूट इक हे दुख दे नितात,
तो एक औषध समा सुख दे प्रशान्त ।।८।।

देही बने अशुभ से, भव मे गुलाम,
विश्राम ही न मिलता, न मिले स्वधाम।
तो भी न मूढ यह भूल सुधारता है,
मोही न गूढ निज तत्त्व विचारता है।।।६।।

साधू सुधी धरम को उर धार ध्याता,
पाता पता परम का, बनता विधाता।
अज्ञात जो सुचिर था वह ज्ञात होता,
जीता निजीय सुख को दुख सर्व खोता।।१०।।

जो अन्य का परिचयी, निज का नहीं है,
होता सुखी न वह, चूँकि परिग्रही है।
जो बार - बार पर को लख फूलता है,
ससार में भटकता वह भूलता है।।।११।।

जो - जो सुखार्थ जड को जब हैं जुटाते,
पाते नहीं सुख कभी दुख ही उठाते।
क्या कूट भूस तृण को हम धान्य पाते,
अक्षुण्ण कार्य करते थक मात्र जाते। ।।१२।।

विज्ञान को सहज ही निज मे जगाना,
रे! हाट जाकर उसे न खरीद लाना।
तू चाहता यदि उसे अति शीघ्र पाना,
आना नहीं भटकना न कहीं न जाना।।१३।।

सीमा न है सहज की, तद है अनन्त,
ऐसे जिनेन्द्र कहते अरहत सन्त।
है ज्ञानगम्य, अतिरम्य, न शब्दगम्य,
तेजोमयी, अतुलनीय तथा अदन्य।।१४।।

आकाश सदृश विशाल, विशुद्ध सत्ता,
योगी उसे निरखते वह बुद्धिमत्ता।
सत्य शिव परम सुन्दर भी वही है,
अन्यत्र छोड उसको सुख ही नहीं है।।१५।।

लक्ष्मी मिले, मिलन हो, मम हो विवाह,
मूढात्म को विषय की दिन - रैन चाह।
साधू न किन्तु पर मे सुख को बताते,
क्या नीर के मथन से नवनीत पाते?।।।१६।।

तादात्म्य मान निज का जड देह साथ,
हा!हा! कदापि कर तू मत आत्मघात।
क्यो तू मुधा अमृत से निज पाद धोता,
धिक्कार व्यर्थ विष पीकर प्राण खोता।।।१७।।

साक्षात्कार प्रभु से जब लो न होता,
ससारि जीव तब लो भव बीच रोता।
पट्टी सु साफ करता नहि घाव धोता,
कैसे उसे सुख मिले, दुख–बीज बोता। ।।१८।।

स्वाधीनता, सरलता, समता, स्वभाव,
तो दीनता, कुटिलता, ममता, विभाव।
जो भी विभाव धरता, तजता स्वभाव,
तो डूबती उपल नाव नहीं बचाव। ।।१९।।

तेरे लिए भव असम्भव भव्य! भावी,
होता न मोह तुझ पे यदि तीव्र हावी।
है मोह भाव भव मे सबको भ्रमाता,
निर्मोह भाव गह जीव बने प्रमाता।।।२०।।

जो जानते निज निरजन ज्ञान को हैं,
और आत्मलीन रहते, तज मान को है।
हो प्राप्त क्यो न उनको सुर सिद्धियॉं भी,
जावे जहॉं सुख मिले, मिलता वहॉं भी। ।।२१।।

जो राग द्वेष करते, धर नग्न भेष,
पाते जिनेश! वृषभेष! न सौख्य लेश।
ना मोक्ष मात्र कच - लुँचन कर्म से हो,
साधु नहीं बसन मुँचन मात्र से हो। ।।२२।।

आनन्द - आत्म - रस का मुनि नित्य लेता,
होता वही अति सुखी, जिन शास्त्र वेत्ता।
तो रोष–तोष तजता, बनताऽरि–जेता,
कीडा करे सतत मुक्ति–रमा–समेता।।।२३।।

मेरी खरी शरण है, मम शुद्ध आत्मा,
होते सुशीघ्र जिससे वसु कर्म खात्मा।
जो सत्य है, सहज है, निज है, सुधा है,
तृष्णा नहीं, न जिसको लगती क्षुधा है।।।२४।।

आकाश मे कठिन पत्थर फेंक देना,
जैसा निजीय कर से सिर फोड लेना।
वैसा सदैव करता निज आत्मघात,
जो एकता समझता जड़ - देह साथ। ।।२५।।

नादान, दीन, मतिहीन, कुशील, मोही!
क्यो "सार है' कह रहा, जड देह को ही।
तू कॉच मे रम रहा, तज दिव्य हीरा!!!
क्यो घास तू चर रहा, तज मिष्ट सीरा। ।।२६।।

होती यदा सहज ही, निज की प्रतीति,
सारी तदा विनशती, रति, ईति, भीति।
है जागती, उछलती, निज नीति रीति,
तो छुटती न रहती, जड - देह प्रीति। ।।२७।।

ज्योत्स्ना जगे, तम टले, नव चेतना है,
विज्ञान–सूरज छटा तब देखना है।
देखे जहॉ परम पावन है प्रकाश,
उल्लास, हास, सहसा, लसता विलास।।।२८।।

मोही सदैव पर में सुख ढूँढता है,
जो झूलता विषय मे नित फूलता है।
पाता अत: नियम से मृग भाँति क्लांति,
स्वामी! नहीं दुख टले, मिलती न शान्ति।।।२६।।

ज्ञानी कभी न रखता पर की अपेक्षा,
शुद्धात्मलीन रहता, सब की उपेक्षा।
माला गले शिव–रमा फिर क्यो न डाले,
या पास क्यो न उसको सहसा बुला ले।।।३०।।

कारुण्य भाव उर लाकर धार बोधी,
क्यो तू बना सु चिर से निजधर्म द्रोही।
विश्वास तू धरम में कर, श्रेष्ठ सो ही,
विश्राम ले, अब जरा, तज मोह मोही। ।।३१।।

ना बाल, लाल, न ललाम, न नील काला,
तू तो निराल, कल, निर्मल शील वाला।
तू शीघ्र बोधमय ज्योति शिखा जला ले,
अज्ञात को निरखले, शिव सौख्य पाले।।।३२।।

रे मूढ! तू जनमता, मरता, अकेला,
कोई न साथ चलता, गुरु भी न चेला।
है स्वार्थ पूर्ण यह निश्चय एक मेला,
जाते सभी बिछुड के जब अन्त बेला।।।३३।।

मैं कौन हूँ? किधर से अब आ रहा हूँ,
जाना कहाँ इधर से कब जा रहा हूँ।
ऐसा विचार यदि तू करता न प्राणी,
कैसे तूझे फिर मिले वह मुक्ति रानी।।।३४।।

चकी बने सुर बने तुम सार्वभौम,
पै अन्त में फल मिला, सुख का विलोम।
तो अग्नि में सहज शीतलता कहाँ है?
जो उष्णता धधकती रहती वहाँ है।।।३५।।

ध्रौव्य सत्ता नहीं जनमती उसका न नाश
पर्याय का जनन केवल और ह्रास।
पर्याय है लहर, वारिधि सत्य सत्ता,
ऐसा सदैव कहते, गुरु देव वक्ता। ।।३६।।

पर्याय को क्षणिक को लक्ष मूढ रोता,
सामान्य को निरखता, बुध तुष्ट होता।
विज्ञान की विकलता दुख क्यो न देगी?
तृष्णा न क्षार जल से मिटती, बढेगी। ।।३७।।

दीवार है अमित और अवरुद्ध द्वार,
क्यो हो प्रवेश निज मे जब हैं विकार।
कैसे सुने जब कि अन्दर मुक्ति नार,
जो आप बाहर खडे, करते पुकार।।३८।।

स्थायी निजीय सुख है, वह है असीम,
तो सौख्य ऐद्रियज है, दुख है, ससीम।
तू अन्तरग बहिरग निसग होता,
तो शीघ्र दुख टलता, सुख सत्य जोता।।३६।।

देखे! नदी प्रथम है निज को मिटाती,
खोती तभी, अमित सागर रुप पाती।
व्यक्तित्त्व को, अहम्को, मद को मिटा दे,
तू भी स्व को सहज मे, प्रभु मे मिलादे। ।।४०।।

ये नाम, काम, धनधाम सभी विकार,
तू शीघ्र त्याग इनको, बन निर्विकार।
साकार हो फिर सभी तव जो विचार,
साक्षात्कार प्रभु से, निज मे विहार।।४१।।

निस्सार जान तजते, बुध लोग भोग,
होते सुखी नियम से उर धाम योग।
नीरोगता जब मिले, रहता न रोग,
होता सुयोग सुख का, दुख का वियोग।।४२।।

अत्यन्त हर्ष सुख मे, दुख मे विषाद,
क्यो तू सदैव करता अति दीन-नाद।
लेता निजीय रस का तब लौं न स्वाद,
ससार मे भटक तू जब लौ प्रमाद।।४३।।

ना सम्पदा न विपदा रहती सदा है,
दोनो अहो! प्रवहमान, मृषा मुधा है।
स्थायी नहीं क्षणिक जो मिटती उषा है,
काली वहीं तदुपरान्त घनी निशा है।।४४।।

खाना खिला, जल पिला, तन को सुलाता,
तू देह की मलिनता, जल से धुलाता।
चिंता नहीं पर तुझे निज की अभी भी,
कैसे तुझे सुख मिले, न मिले कभी भी।।४५।।

स्वादिष्ट है अशन तू इसको खिलाता,
घी दूध और सरस पेय तथा पिलाता।
तो भी सदा तृषित पीडित मात्र भूखा,
रे मूढ ! कार्य तब है कितना अनूखा।।४६।।

आत्मा रहा, रह रहा, चिर औ रहेगा,
कोई कदापि उसको न मिटा सकेगा।
विश्वास ईदृश न हो अयि भव्य लोगो !!!
सारे अरे! सुचिर दुस्सह दुख भोगो।।४७।।

है ऑख का विषय पुद्गल पिंड मात्र,
ऐसा मुनीश कहते, यह सत्य शास्त्र।
आत्मा अमूर्त नित है, वह ज्ञानगम्य,
चैतन्य-सौध सुख-धाम न चक्षुगम्य।।४८।।

क्या हो गया समझ में मुझ को न आता,
क्यों बार बार मन बाहर दौड जाता।
स्वाध्याय, ध्यान करके मन रोध पाता,
पै श्वान सा मन सदा मल शोध लाता।।४९।।

होता सुखी स्व-पर बोध बिना न जीव,
रोता सदीव, दुख को सहता अतीव।
स्वामी ! प्रणाम मम हो उसको अनन्त,
पीडा मिटे, बल मिले जिससे ज्वलंत।।५०।।

धोखा दिया स्वयम् को अब लौं अवश्य,
जाना गया न हमसे निज का रहस्य।
ऐसी दशा जब रही सब की हमारी,
तो क्यों हमें वह वरे वर मुक्ति-नारी।।५१।।

तू कौन है? विदित है? कुछ है पता भी,
क्यों मौन है? स्मरण है निज की कथा भी?
तू जानता न निज को, न सुखी बनेगा,
संसार दुख सहता, भ्रमता फिरेगा।।५२।।

तू बार बार मरता, तन धार धार,
पीडा अत सह रहा, उसका न पार।
जो भोग लीन रहता, तज आत्म-ध्यान,
होता नहीं वह सुखी अय भव्य! जान।।५३।।

विज्ञान मूल यह है, सुख वैभवो का,
होता विनाश वह दुख कई भवो का।
भानू उगे, तम टले, उजला प्रभात,
उल्लास, हास ,सहसा सुख एक साथ।।५४।।

आधार सत्य सुख का जब आत्मा है,
तू क्यो भला भ्रमित हो पर मे रमा है।
ज्ञानी कभी न तुझसे पर मे रमेंगे,
साधु कभी न भव कानन मे भ्रमेंगे।।५५।।

शुद्धात्म का न यदि संस्तव तू करेगा,
आनन्द का न झरना तुझ मे झरेगा।
ससार मे जनम ले कब लौं मरेगा?
तू देह का वहन यों कब लौं करेगा?।।५७।।

जो भी जहाँ जगत में कुछ दृश्यमान,
स्थायी नहीं वह सभी, क्षण नश्यमान।
क्या जन, मान मन! तू करतातिमान,
क्यो तू वृथा नित व्यथा सहता महान्।।५७।।

ना नारकी न नर वानर मैं न नारी,
हूँ निर्विकार पर निर्मल बोधधारी।
आदर्श सादृश विशुद्ध स्वभाव मेरा,
मेरा नहीं जड़मयी यह देह डेरा।।५८।।

मेरी खरी, सुखकरी रमणी क्षमा है,
शोभावती भगवती जननी प्रमा है,
मैं बार-बार निज को करता प्रणाम,
आनन्द नित्य फिर तो दुख का न नाम।।५६।।

ब्रह्मा ,महेश, शिव मैं,मम नाम "राम"
मेरा विराम मुझ मे, मुझ में न काम।
ऐसा विवेक मुझ को अधुना हुआ है,
सौभाग्य से सहज द्वार अहो ! खुला है।।६०।।

माता पिता, सुत, सुता, वनिता व भ्राता,
मेरे न ये, न मम है इन सग नाता।
मै एक हूँ पृथक् हूँ सबसे सदा से,
मैं शुद्ध हूँ भरित बोधमयी सुधा से।।६१।।

दारा नहीं शरण है, मनमोहिनी है,
देती अतीव दुख है, भववर्धिनी है।
ससार कानन जहाँ वह सर्पिणी है,
मायाविनी अशुचि है, कलिकारिणी है।।६२।।

काले घने जलद के दल डोलते हैं,
जो व्योम मे "गडगडाहट" बोलते हैं।
पै मौन मेरु सम वे ऋषि लोग सारे,
शुद्धात्म चितन करें, निज को निहारे।।६३।।

वर्षा घनी, मुसल-धार, अपार नीर,
योगी खडे स्थिर, दिगंबर है शरीर।
आश्चर्य पै न उनके मुख पै विकार,
पीडा व्यथा दुख नहीं समता अपार।।६४।।

जो बीच, बीच बिजली, पल आयुवाली,
ज्योतिर्मयी चमकती, मिटती प्रणाली।
विस्तार है तिमिर का वन में तथापि,
आलोक को निरखते मुनि वे अपापी।।६५।।

तीव्रातितीव्र चलती अतिशीत वायु
तो झॉय झॉय करते तरु सॉंय सॉय।
लाते न किन्तु मुनि वे मन में कषाय,
पाते अत· सुख सही, बनते अकाय।।६६।।

सारी धरा जलमयी नभ मेघ माला,
भानू हुआ उदित हो, पा ना उजाला।
ऐसी भयानक दशा फिर भी स्व-लीन,
वे धन्य हैं अभय हैं, मुनि जो प्रवीन।।६७।।

हेमत में हितमयी हिम से मही है,
दाहात्मिका किरण भास्कर की नहीं है।
तो भी परीषहजयी ऋषिराज सारे,
निर्ग्रन्थ हो करत ध्यान नदी किनारे।।६८।।

निश्चिंत हो, निडर, निश्चल हो विनीत,
योगी रहे स्वयम् मे, यह भव्य रीत।
वे प्रेम से, विनय से, निज गीत गाते,
चांचल्य चित्त तब ही, द्रुत जीत पाते।।६६।।

छाया नहीं विपिन में, गरमी घनी है,
तेजामयी अरुण की किरणे तनी हैं।
पै योग धार, जड काय सुखा रहे हैं,
ज्ञानी तभी, अघ कषाय घटा रहे हैं।।७०।।

सत्यार्थ देव गुरू आगम की सुसेव,
आलस्य त्याग मुनि वे करते सदैव।
इच्छा नहीं विषय की रखते कदापी,
संभोग लीन रहते, जग मात्र पापी।।७१।।

अत्यन्त लू चल रही, नभ धूल फैली,
है स्वेद से लथपथी मुनि देह मैली।
हैं ध्यान लीन सब तापस वे तथापि,
निष्कंप मेरु सम, ना डरते कदापि।।७२।।

संतप्त है तपन आतप से शिलाएं,
सुखे हुए सरित हैं सब वाटिकाएं।
देखो! तथापि तपते गिरिपै तपस्वी,
जो पाप, ताप तजते बनते यशस्वी।।७३।।

निंदा करे, स्तुति करे, तलवार मारे,
या आरती मणिमयी सहसा उतारे।
साधू तथापि मन में समभाव धारे,
बैरी सहोदर जिन्हे इकसार सारे।।७४।।

जो जानते भवन को वन को समान,
वे पूजनीय भजनीय अहो! महान।
दुर्गन्ध से न करते बुध लोग ग्लान,
तो फूलते न सुख मे, दुख मे न म्लान।।७५।।

जो आत्मध्यान करते, करते न मान,
मानापमान जिनको सब हैं समान।
प्रत्यक्ष ज्ञान गहते, भव पार जाते,
वे सिद्ध लौट न कभी भव बीच आते।।७६।।

जो रोष-तज के रहते विराग,
औ भोग को समझते विष-कृष्ण नाग।
वे ही विभो! विमल केवल बोध पाते,
रागी रहे सब दुखी, उर क्रोध लाते।।७७।।

है वीतराग पथ जो न जिसे सुहाता,
निर्भ्रान्त चोर वह दुष्ट, कुधी कहाता।
जाता अतः नरक में अति दुख पाता,
कालुष्य भाव भव में उसको सताता ।।७८।।

सच्चा वही धरम है जिसमें न हिंसा,
होगी नहीं वचन से उसकी प्रशसा।
आधार मात्र उसका यदि भव्य लेता,
संसार पार करता, बनताऽ रिजेता।।७९।।

कोई पदार्थ जग में न बुरे न अच्छे,
ऐसा सदेव कहते, गुरुदेव सच्चे।
साधू अत न करते रति, राग, द्वेष
नीराग भाव धरते, धरते न क्लेश।।८०।।

योगी स्वधाम तज बाहर भूल आता,
सद्ध्यान से स्खलित हो अति कष्ट पाता।
तालाब से निकल बाहर मीन आता,
होता दुखी, तडपता, मर शीघ्र जाता।।८१।।

ज्ञानी कभी मरण से डरते नहीं हैं,
तो चाहते सुचिर जीवन भी नहीं हैं।
वे मानते, मरण जीवन देह के हैं,
ऐसा निरतर सुचिंतन रे! करे हैं।।८२।।

दीक्षा लिए बहुत वर्ष हमें हुए हैं,
शास्त्रानुसार हमने तप भी किए है।
इत्थं प्रमत्त मुनि हो, मद जो दिखाते,
वे धर्म से सरकते अति दूर जाते।।८३।।

जो आपको समझते सबसे बड़े हैं,
वे धर्म से बहुत दूर अभी खडे हैं।
मिथ्याभिमान करना सबसे बुरा है,
स्वामी! अत: न मिलता, सुख जो खरा है।।८४।।

मानाभिभूत मुनि, आतम को न जाने,
तो वीतराग प्रभु को वह क्या पिछाने।
जो ख्याति लाभ निज पूजन चाहता है,
ओ? पाप का वहन ही करता वृथा है।।८५।।

तू ने किया विगत मे कुछ पुण्य पाप,
जो आ रहा उदय मे स्वयमेव आप।
होगा न बध तब लौं, जब लौं न राग,
चिता नहीं उदय से, बन वीतराग।।८६।।

तू बध हेतु उदयागत कर्म को ही,
है मानता यदि, कदापि न मोक्ष होगी।
ससार का विलय हो न विधि व्यवस्था,
तो कौन सी फिर तदा तव हो अवस्था।।८७।।

आता यदा उदय मे वह कर्म साता,
प्राय स्वदीय मुख पै सुख-दर्प छाता।
सिद्धान्त का इसलिए तुझको न ज्ञान,
तू स्वप्न को समझता असली प्रमाण।।८८।।

देती नहीं दुख कभी वह जो आसाता,
साता, असात इनसे तब है न नाता।
ना जानते समझते, जड तो रहे हैं,
संवेदना न उनमे, उस से परे है।।८६।।

तू धर्म धर्म कहता, उसका न मर्म
है जानता, फिरं मिले, किस भांति शर्म।
क्या धर्म है? विदित है न तुझे अभी भी,
तो क्यो मिले शिव तुझे, न मिले कभी भी।।६०।।

सद्‌बोध भानु जब लौं उगता नहीं है,
आशा-निशा न नशती, तब लौं वही है।
ज्ञानी अत निरखते, सब को सही हैं,
होते नहीं स्खलित वे गिरते नहीं हैं। ६१।।

हो जाय, राग यदि आतम का स्वभाव,
ना मोक्ष तत्त्व रहता, सुख का अभाव।
तो विश्व का वितथ हो पुरुषार्थ सारा,
क्यों आयगा फिर प्रभो! भव का किनारा।।६२।।

ना मूढता, विषमता, खलता दिखाती,
मिथ्यात्व और जब निद्य कषाय जाती।
आत्मा अहो! स्वयम् को लखता तदा है,
पाता सहर्ष अविनश्वर सपदा है।।६३।।

ना अग-सग मम निश्चय नित्य नाता,
ऐसा निरतर अहो! समदृष्टि गाता।
औचित्य है, जब मिले, वह मुक्ति राह,
तो देह से न ममता कुछ भी न चाह।।६४।।

जो भद्र भव्य भव से भयभीत होता,
वैराग्य भाव तब है स्वमेव ढोता।
संसार सागर असार अपार क्षार,
यों बार बार करता मन मे विचार।।६५।।

विद्रोह, मोह, निज देह सनेह छोडो,
और मान के, दमन के सब दॉत तोडो।
सम्बन्ध मोक्ष पथ से अनिवार्य जोडो,
तो आपको नमन हो मम जो करोडो।।६६।।

ना आधि-व्याधि मुझमे, न उपाधियाँ हैं,
मेरा न है मरण ये जड पक्तियाँ हैं।
मैं शुद्ध चेतन निकेतन हूँ निराला,
आलोक सागर, अत समदृष्टि वाला।।६७।।

मिथ्या दिशा पकड के जब तू चलेगा,
गंतव्य थान तुझको न कभी मिलेगा।
कैसे मिले, सुख भले, दुख क्यो टलेगा,
रागाग्नि से जल रहा, चिर और जलेगा।।६८।।

स्वात्मानुभूति-सर मे करता न स्नान,
कालुष्य-कालिख कभी न धुले सुजान।
क्यो व्यर्थ ही विषय कर्दम मे फँसा है,
भाई वहॉ सुख नहीं, वह तो मृषा है।।६६।।

निस्सार भोग जब है यश कीर्ति सर्व,
तो क्यों करे सुबुध लोग वृथैव गर्व।
वे निर्विकार बन के, तज के विकार,
निश्चित होकर करें निज मे विहार।।१००।।

प्रत्येक काल उठता, मिटता पदार्थ,
है ध्रौव्य भी प्रवहमान वही यथार्थ।
योगी उसे समझते लखते सदीव,
आनन्द कानुभव वे करते अतीव।।१०१।।

स्वामी! "निजानुभव" नामक काव्य प्यारा,
कल्याण खान, भव नाशक, श्राव्य न्यारा।
जो भी इसे विनय से पढ, आत्म ध्यावे,
"विद्यादिसार" बन के, शिव सौख्य पावे।।१०२।।

दोहा

अजयमेर के पास है ब्यावर नगर महान्
धरा वर्षा योग को ध्येय स्व-पर कल्याण ।।१०३।।

नव नव चउद्वय वर्ष की,
सुगन्ध दशमी आज।
लिखा गया यह ग्रन्थ है,
निजानन्द के काज ।।१० ४।।

।। **निजानुभवाय नमः**।।

मुक्तक शतक

मुक्तक शतक

निगोद में रचा पचा,
कोई भी भव न बचा,
तथापि सुख का न शोध,
हुआ रहा मैं अबोध।।१।।

प्रभो! सुकृत उदित हुआ,
फलत मैं मनुज हुआ,
दुर्लभ सत्संग मिला,
मानो यही सिद्धशिला।।२।।

फिर गुरु उपदेश सुना,
जागृत हुआ सुन गुना,
ज्ञात हुआ स्व - पर भेद,
व्यर्थ करता था खेद।।३।।

विदित हुआ मैं चेतन,
ज्ञान - गुण का निकेतन,
किन्तु तन, मन अचेतन,
जिन्हे न निज का सम्वेदन।।४।।

चेत चेतन चकित हो,
स्वचिन्तन वश मुदित हो,
यो कहता मैं भूला,
अब तक पर मे फूला।।५।।

अब सर्वत्र उजाला,
शिव - पथ मिला निराला,
किस बात का मुझे डर,
जब जा रहा स्वीय घर।।६।।

यह है समकित प्रभात,
न रही अब मोह रात,
बोध - रवि - किरण फूटी,
टली भ्रम - निशा झूठी।।७।।

समता अरुणिमा बढ़ी,
उन्नत शिखर पर चढी,
निज - दृष्टि निज मे गड़ी,
धन्यतम है यह घड़ी।।८।।

अनुकम्पा - पवन भला
सुखद पावन बह चला,
विषमता - कण्टक नहीं,
शिव - पथ अब स्वच्छ सही ।।६।।

यह सुख की परिभाषा,
रहे न मन मे आशा,
ऐसी हो प्रतिभासा,
परित पूर्ण प्रकाशा।।१०।।

कुछ नहीं अब परवाह,
जब मिटी सब कुछ चाह,
दुख टला, निज - सुख मिला,
मम उर दृगपद्म खिला।।११।।

"विद्या" अविद्या छोड़,
कषाय कुम्भ को फोड,
कर रहा उससे प्यार,
भजो सत्‌चेतना नार।।१२।।

मुनि वशी निरभिमानी,
निरत निज मे विज्ञानी,
जिसे नहिं निज का ज्ञान,
वह करता मुधा मान।।१३।।

सुन - सुन मानापमान,
दुखदायक अध्यवसान,
सुधी बस उन्हे तजकर,
निजानुभव करे सुखकर।।१४।।

विषय - कषाय वश सदा,
दु ख सहता मूढ़ मुधा,
निज निजानुभव का स्वाद,
बुधजन लेते अबाध।।१५।।

यह योगी का विचार,
हैं ज्ञान के भण्डार,
सभी ससारी जीव,
द्रव्य - दृष्टि से सदीव।।१६।।

रखे नहिं सुधी परिग्रह,
करे सदा गुण - सग्रह
नमे निज निरञ्जन को,
तजे विषय - रञ्जन को।।१७।।

पर - परिणति को लखकर,
जडमति बिलख - हरख कर।
कर्मों से है बधता,
वृथा भव - वन भटकता।।१८।।

मुनि ज्ञानी का विश्वास,
मम हो न कभी विनाश
और हूँ नहीं रोगी
फिर व्यथा किसे होगी।।१९।।

मैं वृद्ध, युवा न बाल,
ये हैं जड के बबाल,
इस विधि सुधी जानता,
सहज निज सुख साधता।।२०।।

पुष्पहार से नहिं तोष,
करे न विषधर से रोष,
पीता निशिदिन ज्ञानी,
शुचिमय समरस पानी।।२१।।

अबला सबला नहिं नर,
ना मैं नपुसक वानर।
नहिं हृष्ट, पुष्ट, कुरूप,
हूँ इन्द्रियातीत अरूप।।२२।।

ललित लता सी जाया,
है सध्या की छाया।
औ सुभग यह काया,
केवल जड की माया।।२३।।

पावन ज्ञान - धन - धाम,
अनन्त गुणों का ग्राम।
स्फटिक सम निर्विकार,
नित निज में मम विहार।।२४।।

पर - द्रव्य पर अधिकार,
नहिं हो इस विध विचार,
जानना तेरा काम,
कर तू निज में विश्राम।।२५।।

योग - मार्ग बहुत सरल,
भोगमार्ग निश्चय, गरल।
स्वानुभावामृत तज कर,
विषय-विष-पान मत कर।।२६।।

क्यो भटकता तू मुधा,
क्यो दुख सहता बहुधा।
तब मिटेगी यह क्षुधा
जब मिलेगी निज सुधा।।२७।।

क्यो बनता तू बावला,
सोच अब निज का भला।
यह मनुज मे ही कला,
अत उर मे समभाव ला।।२८।।

यदि पर सग सम्बन्ध,
रखता, तो करम बन्ध,
फिर भवकूल, किनारा,
न मिले तुझे सहारा।।२६।।

परन्तु मूढ़ भूल कर,
स्व को नहिं मूल्य कर।
पर को हि अपना रहा,
मृषा दु:ख उठा रहा।।३०।।

तू तजकर मोह - तृषा,
अरे! कर निज पर कृपा।
होगा न सुखी अन्यथा,
यह बात सत्य सर्वथा।।३१।।

अरे! लक्ष्यहीन तव प्रवास,
तुझको दे रहा त्रास।
मति सुधारनी होगी,
चाल बदलनी होगी।।३२।।

राग नहीं मम स्वभाव,
द्वेष है विकार भाव।
यों समझ उनको त्याग,
बन जिन - सम वीतराग।।३३।।

कर अब आतम अनुभव,
फलत हो सुख सम्भव।
मिट जाये दुख सारा,
मिल जाये शिव प्यारा।।३४।।

दृग - विद्या - व्रत, रत्नत्रय।
करे प्रकाशित जगत्त्रय।
जो इनका ले आश्रय,
अमर बनता है अभय।।३५।।

आत्मा कभी न घटता,
मिटता, कभी न बढ़ता।
परन्तु खेद, यह बात,
मूढ़ को नहिं है ज्ञात।।३६।।

मूढ गूढ स्वतत्व भूल,
पर मे दिन - रात फूल।
दु:ख का वह सूत्रपात,
कर रहा निज का घात।।३७।।

मुख से निकले न बोल,
मन मे अनेक कल्लोल।
नित मूर्ख करता रोष,
निन्द्यतम अघ का कोष।।३८।।

स्मरण - शक्ति चली गई,
लोचन - ज्योति भी गई।
पर जिसकी विषय - चाह
भभक - भभक उठी दाह।।३९।।

देह जरा - वश जर्जरित,
हुआ मुख - कमल मुकुलित।
तथा समस्त मस्तक पलित,
जड की तृष्णा द्विगुणित।।४०।।

यह सब जड का बबाल,
मैं तो नियमित निहाल।
जिसको पर विदित नहीं
कि यह मम परिणति नहीं।।४१।।

मोह - कर्दम मे फँसा,
उल्टी मूढ की दशा।
रखता न स्व - पर विवेक,
सहता कष्टातिरेक।।४२।।

है स्व - पर की पहिचान,
शिवसदन का सोपान।
पर को अपना कहना,
केवल भव - दु:ख सहना।।४३।।

यदि हो स्व - पर बोध,
फिर उठे नहिं उर - क्रोध।
मूर्ख ही क्रोध करता,
पुनि - पुनि तन गह, मरता।।४४।।

जब हो आत्मानुभूति,
निश्चिन्त सुख की चिन्मूर्ति,
मिलती सहज चिन्मूर्ति,
द्युतिमय शुचिमय विभूति।।४५।।

स्वय से परिचित नहीं,
भटकता भव मे वही।
पग - पग दु.ख उठाता,
पाप - परिपाक पाता।।४६।।

विद्या बिन, चारित्र वृथा,
जिससे न मिटती व्यथा।
फिर सहज शुद्ध समयसार,
क्यो मिले फिर विश्वास।।४७।।

कभी मिला सुर - विलास,
तो कभी नरक - निवास
पुण्य - पाप का परिणाम,
न कभी मिलता विश्राम।।४८।।

मूढ पाप से डरता,
अत: पुण्य सदा करता।
तो संसार बढ़ाता,
भव - वन चक्कर खाता।।४९।।

पाप तज पुण्य करोगे,
तो क्या नहीं मरोगे।
भले हि स्वर्ग मिलेगा,
भव - दुख नहीं मिटेगा।।५०।।

प्रवृत्ति का फल ससार,
निवृत्ति सुख का भण्डार।
पहली अहो पराश्रिता,
दूजी पूज्य निजाश्रिता।।५१।।

मत बन किसी का दास,
पर बन, पर से उदास।
फलतः कर्मों का नाश,
उदित हो बोध - प्रकाश।।५२।।

अत: मेरा सौभाग्य,
मुझको हुआ वैराग्य।
पुण्य - पाप है नश्वर,
शुद्धातम वर ईश्वर।।५३।।

सुख - दु ख मे समान मुख,
रहे, तब मिले शिव - सुख।
अन्यथा बस दुस्सह दुख,
ऊर्ध्व, अधो, पार्श्व, सम्मुख।।५४।।

स्नान स्वानुभव सर मे,
यदि हो, तो पल भर मे।
तन - मन निर्मलतम बने,
अमर बने मोद घने।।५५।।

सब पर भव - परम्परा,
यो लख तू स्वयं जरा।
निज मे धन अमित भरा,
जो है अविनश्वर और खरा।।५६।।

आलोकित लोकालोक,
करता नहीं आलोक।
जो तुझ मे अव्यक्त रूप,
व्यक्त हो, तो सुख अनूप।।५७।।

क्यो करता व्यर्थ शोक,
निज को जान, मन रोक।
बाहर दिखती पर्याय,
आभ्यन्तर द्रव्य सुहाय।।५८।।

विद्या - रथ पर बैठकर,
मनोवेग निरोध कर।
अब शिवपुर है जाना,
लौट कभी नहिं आना।।५९।।

झर - झर झरता झरना,
कहता चल - चल चलना।
उस सत्ता से मिलना,
पुनि - पुनि पड़े न चलना।।६०।।

लता पर मुकुलित कली,
कभी - कभी खुली, खिली।
कभी गिरी, परी मिली,
सब मे वही सत् ढली।।६१।।

सकल पदार्थ अबाधित,
पल - पल तरल प्रवाहित।
होकर भी ध्रुव त्रिकाल,
जीवित शाश्वत निहाल।।६२।।

रवि से जन, जल जलता,
वही वाष्प मे ढलता।
जलद बन, पुनि पिघलता,
सतत है सत् बदलता।।६३।।

गुण वश प्रभु, तुम - हम सम,
पर पृथक्, हम भिन्नतम।
दर्पण में कब दर्पण,
करता निजपन अर्पण।।६४।।

राम - राम, श्याम - श्याम
इस रटन से विश्राम।
रहे न काम से काम,
बन जाऊँ मैं निष्काम।।६५।।

क्षणिक सत्ता को मिटा,
महासत्ता मे मिला।
आर - पार तदाकार,
निराकार मात्र सार।।६६।।

मन पर लगा लगाम,
निज दीप जला ललाम।
सकल परमार्थ पदार्थ,
प्रतिभासित हो यथार्थ।।६७।।

बन्द कर नयन - पुट को,
लखता अन्तर्घट को।
दिखती फैली लाली,
न निशा मैली काली।।६८।।

इच्छा नहिं कि कुछ लिखूँ
जड़ार्थ मुनि हो बिकूँ।
जो कुछ होता लखना,
लेखक बन नहिं लिखना।।६६।।

स्मृति मे कुछ भी लाना,
ज्ञान को बस सताना।
लेखनी लिखती रहे,
आत्मा लखती रहे।।७०।।

दृग, चरण गुण अनमोल,
निस्पन्द अचल अलोल।
मत इन्हें जड पर तोल,
अमृत मे विष मत घोल।।७१।।

अमूर्त की मृदुता मे,
सिमिट - सिमिट रहता मैं।
धवल कमल की मृदुता,
नहिं रुचती अब जड़ता।।७२।।

सरस - विरस से ऊपर,
उठकर, रसगुण चखकर।
मम रसना जीवित है,
प्रमुदित उन्मीलित है।।७३।।

लाल - लाल युगलगाल,
साम्य के सरस रसाल।
चूस - चूस तुष्ट हुई,
रसना सम्पुष्ट हुई।।७४।।

मति - मती मम नासिका,
ध्रुव गुण की उपासिका।
न दुर्गन्ध - सुगन्ध से,
प्रभावित है गन्ध से।।७५।।

रूप विरूप को लखा,
चिर तृषित नयनो चखा।
पर अनुपम रूप यहाँ,
जग में सुख - कूप कहाँ?

सप्त - स्वरों से अतीत,
सुन रहा हूँ सगीत।
मनो वीणा का तार,
तुन - तुन ध्वनित अपार।।७७।।

अमूर्त के आकाश मे,
विलीन ज्यो प्रकाश में।
प्रकाश नाश विकास में,
सत् चिन्मय विलास मे।।७८।।

आलोक की इक किरण,
पर्याप्त चलते चरण।
पथिक! सुदूर भले ही,
गन्तव्य पर मिले ही।।७६।।

आसीन सहज मानस,
तट पर यह मम मानस।
हंस सानन्द क्रीडा,
कर रहा भूल पीडा।।८०।।

विगत सब विस्मरण में,
अनागत कब मरण में -
ढल चुका, विदित नहिं है,
स्व - सवेदन बस यही है।।८१।।

विमल समकित विहगम,
दृश्य का हुआ सगम।
नयनो से हृदयगम,
किया मम मन विहगम।।८२।।

समकित सुमन की महक,
गुण - विहंगम की चहक।
मिली, साम्य उपवन में,
नहिं! नहिं! नन्दन वन में।।८३।।

भय नहीं विषय - विष से,
नहिं प्रीति पीयूष से।
अजर अमर अविनाशी,
हूँ चूँकि ध्रुव विकासी।।८४।।

हर सत् मे अवगाहित,
हूँ प्रतिष्ठित अबाधित।
समर्पित सम्मिलित हूँ,
हूँ तभी शुचि मुदित हूँ।।८५।।

ज्ञात तथ्य सत्य हुआ,
जीवन कृत्कृत्य हुआ।
हुआ आनन्द अपार,
हुआ वसन्त संचार।।८६।।

फलत. परितः प्लावित,
पुलकित पुष्पित फुल्लित।
मृदु शुचि चेतन - लतिका,
गा रही गुण - गीतिका।।८७।।

जलद की कुछ पीलिमा,
मिश्रित सघन नीलिमा।
चीर, तरुण अरुण भाँति,
बोध - रवि मिटा भ्रान्ति।।८८।।

हुआ जब से वह उदित,
खिली लहलहा प्रमुदित।
सचेतना सरोजिनी,
मोदिनी मनमोहिनी।।८६।।

उद्योत इन्दु प्रभु सिन्धु,
खद्योत मैं लघु बिन्दु।
तुम जानते सकल को,
मैं स्व-पर के शकल को।।६०।।

मैं पराश्रित, निजाश्रित,
तुम हो, पै तुम आश्रित -
हो, यह रहस्य सूँघा,
सम्प्रति अवश्य गूगा।।६१।।

प्रकृति से ही रही प्रकृति
भोग्या जड़मती कृति।
भोक्ता पुरुष सनात,
नव - नवीन अधुनातन।।६२।।

पुरुष पुरुष से न प्रभावित,
हुआ, प्रकृति से बाधित।
हुआ, पुरुषार्थ वंचित,
विवेक रखे न किंचित्।।६३।।

रहा प्रकृति से सुमेल,
रखता, खेलता खेल।
स्वभाव से दूर रहा,
विभाव से पूर रहा।।६४।।

सुधाकर सम सदा से,
पूरित बोध - सुधा से।
होकर भी राग केतू,
भरित है चित् सुधा से तू।।६५।।

उस ओर मौन तोडा,
विवाद से मन जोडा।
पुरुष नहीं बोलेंगे,
मौन नहीं खोलेंगे।।६६।।

प्रमाद की इन ताने -
बाने सुन सम ताने।
मौन मुझे जब लखकर,
चिडकर खुलकर मुड़कर।।९७।।

प्रेम क्षेत्र मे अब तक,
चला किन्तु यह कब तक।
मेरे साथ ए नाथ!
होगा विश्वासघात।।९८।।

समता से मम ममता,
जब से तन क्षमता।
अनन्त ज्वलन्त प्रकटी,
प्रमाद - प्रमदा पलटी।।९९।।

कुछ - कुछ रिपुता रखती,
रहती मुझको लखती।
अरुचिकर दृष्टि ऐसी,
प्रेमी आप ! प्रेयसी।।१००।।

मुझ पर हुआ पविपात,
कि आपद माथ, गात।
विकल पीडित दिन - रात,
चेतन जड़ एक साथ।।१०१।।

अब चिरकाल अकेली,
पुरुष के साथ केली।
पिलापिला अमृतधार,
मिलामिला सस्मित प्यार।।
करूँगी खुश करूँगी,
उन्हे जीवित नित लखूँगी।।१०२।।

दोहा स्तुति शतक

दोहा स्तुति शतक

मंगलाचरण

शुद्ध भाव से नमन हो, शुद्धभाव के काज।
स्मरो, स्मरू नित थुति करूं उरमे करूं विराज।।
अगार गुण के गुरु रहे, अगुरु गन्ध अनगार।
पार पहुँचने नित नमूँ, प्रणाम बारम्बार।।
नमूँ भारती भ्रम मिटे, ब्रह्म बनूँ मैं बाल।
भार रहित भारत बने, भास्वत भारत भाल।।

श्री आदिनाथ भगवान

आदिम तीर्थकर प्रभु, आदिनाथ मुनिनाथ।
आधि व्याधि अघ मद मिटे तुम पद मे मममाथ।।
वृष का होता अर्थ है, दयामयी शुभ धर्म।
वृष से तुम भरपूर हो, वृष से मिटते कर्म।।
दीनो के दुर्दिन मिटे तुम दिनकर को देख।
सोया जीवन जागता, मिटता अघ अविवेक।।
शरण चरण है आपके, तारण तरण जहाज।
भव दधि तट तक ले चलो करुणाकर जिनराज।।

श्री अजितनाथ भगवान

हार जीत के हो परे, हो अपने मे आप।
बिहार करते अजित हो, यथा नाम गुण छाप।।
पुण्य पुज हो पर नहीं, पुण्य फलो मे लीन।
पर पर पामर भ्रमित हो, पल पल पर आधीन।।
जित इन्द्रिय जित मद बने जितभव विजित कषाय।
अजितनाथ को नित नमूँ, अर्जित दुरित पलाय।।
कोपल पल पल को पले, वन मे ऋतु पति आय।
पुलकित मम जीवन लता, मन मे जिनपद पाय।।

श्री सभवनाथ भगवान

भव-भव भव-वन भ्रमित हो, भ्रमता-भ्रमता आज।
सभव जिनभव शिव मिले, पूर्ण हुआ मम काज।।
क्षण क्षण मिटते द्रव्य है, पर्यय वश अविराम।
चिर से है चिर ये रहे, स्वभाव वश अभिराम।।
परमार्थ का कथन यू, कथन किया स्वयमेव।
यतिपन पाले यतन से, नियमित यति हो देव।।
तुम पद पकंज से प्रभु, झर झर झरी पराग।
जब तक शिव सुख ना मिले, पीऊ षटपद जाग।।

श्री अभिनन्दन नाथ भगवान

गुण का अभिनन्दन करो, करो कर्म की हानि।
गुरु कहते गुण गौण हो, किस विध सुख हो प्राणि।।
चेतन वश तन, शिव बने, शिव बिन तन शव होय।
शिव की पूजा बुध करे, जड तन शव पर रोय।।
विषयो को विष लख तजू, बनकर विषयातीत।
विषय बना ऋषि ईश को, गाऊँ उनका गीत।।
गुणधारे पर मद नहीं, मृदुतम हो नवनीत।
अभिनन्दन जिन ! नित नमूँ मुनि बन मैं भवभीत।।

श्री सुमतिनाथ भगवान

बचूँ अहित से हित करूँ, पर न लगा हित हाथ।
अहित साथ, ना छोड़ता, कष्ट सहूँ दिन-रात।।
बिगडी धरती सुधरती, मति से मिलता स्वर्ग।
चारो गतियॉ बिगडती, पा अघ मति ससर्ग।।
सुमतिनाथ प्रभु सुमति हो, मम मति है अतिमद।
बोध कली खुल खिल उठे, महक उठे मकरन्द।
तुम जिन मेघ मयूर मैं, गरजो बरसो नाथ।
चिर प्रतीक्षित हूँ खड़ा, ऊपर करके माथ।।

श्री पद्मप्रभ भगवान

निरीछटा ले तुम छटे, तीर्थकरो मे आप।
निवास लक्ष्मी के बने, रहित पाप संताप।।
हीरा मोती पद्म ना, चाहूँ तुमसे नाथ।
तुम सा तम-तामस मिटा, सुखमय बनूँ प्रभात।।
शुभ्र सरल तुम बाल, तव कुटिल कृष्ण तम नाग।
तव चिति चित्रित ज्ञेय से, किंतु न उसमे दाग।।
विराग पद्मप्रभु आपके, दोनों पाद सराग।
रागी मम मन जा वहीं, पीता तभी पराग।।

श्री सुपार्श्वनाथ भगवान

यथा सुधा कर खुद सुधा, बरसाता बिन स्वार्थ।
धर्मामृत बरसा दिया, मिटा जगत का आर्त।।
दाता देते दान है, बदले की ना चाह।
चाह दाह से दूर हो, बड़े बडो की राह।।
अबध भाते काट के, वसु विधि विधि का बध।
सुपार्श्व प्रभु निज प्रभुपना, पा पाये आनन्द।।
बाध-बाध विधि बन्ध मैं, अन्ध बना मतिमन्द।
ऐसा बल दो अध को, बन्धन तोड़ू द्वन्द।।

श्री चन्द्रप्रभु भगवान

सहन कहाँ तक अब करूँ, मोह मारता डंक।
दे दो इसको शरण ज्यो, माता सुत को अंक।।
कौन पूजता मूल्य क्या, शून्य रहा बिन अंक।
आप अक है शून्य मैं, प्राण फूक दो शंख।।
चन्द्र कलंकित कितु हो, चन्द्रप्रभु अकलंक।
वह तो शकित केतु से, शंकर तुम निशक।।
रक बना हूँ मम अत, मेटे मन का पक।
जाप जपूँ जिन नाम का, बैठ सदा पर्यक।।

श्री पुष्पदन्त भगवान

सुविधि सुविधि के पूर हो, विधि से हो अति दूर।
मम मन से मत दूर हो, विनती हो मन्जूर।।
किस वन की मूली रहा, मैं तुम गगन विशाल।
दरिया मे खसखस रहा, दरिया मौन निहार।।
फिर किस विध निरखूँ तुम्हे, नयन करूँ विस्फार।
नाचूँ गॉऊ ताल दूँ, किस भाषा मे ढाल।।
बाल मात्र भी ज्ञान ना, मुझमें मैं मुनि बाल।
बवाल भव का मम मिटे, तुम पद मे मम भाल।।

श्री शीतलनाथ भगवान

चिन्ता छूती कब तुम्हे, चितन से भी दूर।
अधिगम मे गहरे गये, अव्यय सुख के पूर।।
युगो-युगो से युग बना, विघन अघों का गेह।
युग दृष्टा युग मे रहे, पर ना अघ से नेह।।
शीतल चदन है नहीं, शीतल हिम ना नीर।
शीतल जिनतव मत रहा, शीतल हरता पीर।।
सुचिर काल से मै रहा, मोह नींद से सुप्त।
मुझे जगाकर, कर कृपा, प्रभो करो परितृप्त।।

श्री श्रेयासनाथ भगवान

रागद्वेष और मोह ये, होते करण तीन।
तीन लोक मे भ्रमित यह, दीन हीन अघ लीन।।
निज क्या, पर क्या, स्व-पर क्या, भला बुरा बिन बोध।
जिजीविषा ले खोजता, सुख ढोता तन बोझ।।
अनेकान्त की कान्ति से, हटा तिमिर एकान्त।
नितान्त हर्षित कर दिया, क्लान्त विश्व को शान्त।।
नि.श्रेयस सुखधाम हो, हे जिनवर! श्रेयास।
तव थुति अविरल मैं करूँ, जब लौ घट मे श्वॉस।।

वासुपूज्य भगवान

औ न दया बिन धर्म ना, कर्म कटे बिन धर्म।
धर्म मर्म तुम समझकर,करलो अपना कर्म।।
वासुपूज्य जिनदेव ने, देकर यू उपदेश।
सबको उपकृत कर दिया, शिव मे किया प्रवेश।।
वसुविध मगल द्रव्य ले, जिन पूजो सागार।
पाप घटे फलत. फले, पावन पुण्य अपार।।
बिना द्रव्य शुचि भाव से, जिन पूजो मुनि लोग।
बिन निज शुभ उपयोग के शुद्ध न हो उपयोग।।

श्री विमलनाथ भगवान

काया कारा मे पला, प्रभु तो कारातीत।
चिर से धारा मे पड़ा, जिनवर धारातीत।।
कराल काला व्याल सम, कुटिल चाल का काल।
विष विरहित उसका किया, किया स्वप्न साकार।।
मोह अमल बस समल बन, निर्बल मैं भयवान।
विमलनाथ तुम अमल हो, सम्बल दो भगवान।।
ज्ञान छोर तुम मैं रहा, ना समझ की छोर।
छोर पकड़कर झट इसे, खींचो अपनी ओर।।

श्री अनन्तनाथ भगवान

आदि रहित सब द्रव्य है, ना हो इनका अन्त।
गिनती इनकी अन्त से, रहित अनन्त अनन्त।।
कर्त्ता इनका पर नहीं, ये न किसी के कर्म।
सन्त बने अरिहन्त हो, जाना पदार्थ धर्म।
अनन्त गुण पा कर दिया, अनन्तभव का अन्त।
अनन्त सार्थक नाम तव, अनन्त जिन जयवन्त।।
अनन्त सुख पाने सदा, भव से हो भयवन्त।
अन्तिम क्षण तक मैं तुम्हें, स्मरू स्मरे सब सत।।

श्री धर्मनाथ भगवान

जिससे बिछुडे जुड सके, रुदन रुके मुस्कान।
तन गत चेतन दिख सके, वही धर्म सुखखान।।
विरागता मे राग हो, राग नाग विष त्याग।
अमृत पान चिर कर सके, धर्म यही झट जाग।।
दयाधर्म वर धर्म है, अदया भाव अधर्म।
अधर्म तज प्रभु धर्म ने, समझाया पुनि धर्म।।
धर्मनाथ को नित नमूँ, सधे शीघ्र शिव शर्म।
धर्म-मर्म को लख सकूँ, मिटे मलिन मम कर्म।।

श्री शान्तिनाथ भगवान

सकलज्ञान से सकल को, जान रहे जगदीश।
विकल रहे जड देह से, विमल नमूँ नतशीश।।
कामदेव हो काम से, रखते कुछ ना काम।
काम रहे ना कामना, तभी बने सब काम।।
बिना कहे कुछ आपने, प्रथम किया कर्त्तव्य।
त्रिभुवन पूजित आप्त हो, प्राप्त किया प्राप्तव्य।।
शान्ति नाथ हो शान्त कर, सातासाता सान्त।
केवल-केवल-ज्योतिमय, क्लान्ति मिटी सब ध्वात।।

श्री कुंथुनाथ भगवान

ध्यान अग्नि से नष्ट कर, प्रथम पाप परिताप।
कुथुनाथ पुरुषार्थ से, बने न अपने आप।।
उपादान की योग्यता, घट मे ढलती सार।
कुम्भकार का हाथ हो, निमित्त का उपकार।।
दीन दयाल प्रभु रहे, करुणा के अवतार।
नाथ अनाथो के रहे, तार सको तो तार।।
ऐसी मुझपैं हो कृपा, मम मन मुझ में आय।
जिस विध पल में लवण है, जल में घुल मिल जाए।।

श्री अरहनाथ भगवान

चक्री हो पर चक्र के, चक्कर मे ना आय।
मुमुक्षु पन जब जागता, बुभुक्षु पन भग जाय।।
भोगो का कब अन्त है, रोग भोग से होय।
शोक रोग मे हो अत· काल योग का रोय।।
नाम मात्र भी नहि रखो, नाम काम से काम।
ललाम आतम मे करो, विराम आठो याम।।
नाम धरो 'अर' नाम तव, अत· स्मरू अविराम।
अनाम बन शिवधाम मे, काम बनू कृत-काम।।

श्री मल्लिनाथ भगवान

क्षार क्षार भर है भरा, रहित सार ससार।
मोह उदय से लग रहा, सरस सार ससार।।
बने दिगम्बर प्रभु तभी, अन्तरग बहिरग।
गहरी-गहरी हो नदी, उठती नहीं तरग।।
मोह मल्ल को मार कर, मल्लिनाथ जिनदेव।
अक्षय बनकर पा लिया, अक्षय सुख स्वयमेव।।
बाल ब्रह्मचारी विभो, बाल समान विराग।
किसी वस्तु से राग ना, तुम पद से मम राग।।

श्री मुनिसुव्रतनाथ भगवान

निज मे यति ही नियति है, ध्येय "पुरुष" पुरुषार्थ।
नियति और पुरुषार्थ का, सुन लो अर्थ यथार्थ।।
लौकिक सुख पाने कभी, श्रमण बनो मत भ्रात।
मिले धान्य जब कृषि करे, घास आप मिल जात'।।
मुनिबन मुनिपन मे निरत, हो मुनि यति बिन स्वार्थ।
मुनि व्रत का उपदेश दे, हमको किया कृतार्थ।।
मात्र भावना मम रही, मुनिव्रत पाल यथार्थ।
मैं भी मुनिसुव्रत बनू, पावन पाय पदार्थ।।

श्री नमिनाथ भगवान

मात्र नग्नता को नहिं, माना प्रभु शिव पथ।
बिना नग्नता भी नही पावो पद अरहन्त।।
प्रथम हटे छिलका तभी लाली हटती भ्रात।
पाक कार्य फिर सफल हो, लो तव मुख मे भात।
अनेकान्त का दास हो, अनेकान्त की सेव।
करूँ गहूँ मैं शीघ्र से, अनेक गुण स्वयमेव।।
अनाथ मै जगनाथ हो, नमीनाथ दो साथ।
तव पद मे दिन रात हूँ, हाथ जोड नत-माथ।।

श्री नेमिनाथ भगवान

राज तजा राजुल तजी, श्याम तजा बलिराम।
नाम धाम धन मन तजा, ग्राम तजा सग्राम।।
मुनि बन वन मे तप सजा, मन पर लगा लगाम।
ललाम परमातम भजा, निज में किया विराम।।
नील गगन में अधर हो, शोभित निज में लीन।
नील कमल आसीन हो, नीलम से अति नील।।
शील-झील में तैरते, नेमि जिनेश सलील।
शील डोर मुझे बाध दो, डोर करो मत ढील।।

श्री पार्श्वनाथ भगवान

रिपुता की सीमा रही, गहन किया उपसर्ग।
समता की सीमा यही, ग्रहण किया अपवर्ग।।
क्या क्यों किस विध कब कहे, आत्म ध्यान की बात।
पल में मिटती चिर बसी, मोह अमा की रात।।
खास-दास की आस बस, श्वास-श्वास पर वास।
पार्श्व करो मत दास को, उदासता का दास।।
ना तो सुर-सुख चाहता, शिव सुख की ना चाह।
तव थुति सरवर में सदा, होवे मम अवगाह।।

श्री महावीर भगवान

क्षीर रहा प्रभु नीर मैं, विनती करूँ अखीर।
नीर मिला लो क्षीर में, और बना दो क्षीर।।
अबीर हो, तुम वीर भी, धरते ज्ञान शरीर।
सौरभ मुझ में भी भरो, सुरभित करो समीर।।
नीर निधि से धीर हो, वीर बनें गंभीर।
पूर्ण तैर कर पा लिया, भवसागर का तीर।।
अधीर हूँ मुझ धीर दो, सहन करूँ सब पीर।
चीर चीर कर चिर लखूँ, अन्दर की तस्वीर।।

रचना एवम् स्थान परिचय

"बीना बारह क्षेत्र पे सुनो! नदी सुख चैन।
बहती बहती कह रही, इत आ सुख दिन रैन।।
श्याम राम माल रस गंध की वीर जयन्ती पर्व।
पूर्ण हुआ थुति शतक है, पढ़े सुनें हम सर्व।।

"श्याम नारायण ६ राम १ रस ५ गंध २ यानी ६१५२ अकानाम वामतो गति के अनुसार वीर निर्माण संवत् २५१६ विक्रम संवत् २०५० शक संवत् १६१५ चैत्र सुदी त्रयोदशी महावीर जयन्ती दिवस पर सुखचैन नदी के समीपवर्ती श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र बीना बारहा देवरी सागर म प्र मे ४ अप्रेल १६६३ ईस्वी, रविवार के दिन दिगम्बर जैनाचार्य सन्तशिरोमणि श्री विद्यासागर मुनि महाराज के द्वारा यह "स्तुति शतक " अपर नाम "दोहा थुति शतक " पूर्ण हुआ।

पूर्णोदय शतक

बिन तन बिन मन वचन बिन,
बिना करण बिन वर्ण।
गुण गण गुम्फन घन नमूँ,
शिवगण को बिन स्वर्ण ।।१।।

पाणि-पात्र के पाद मे,
पल-पल हो प्रणिपात।
पाप खपा, पा, पार को ,
पावन पाऊँ प्रान्त ।।२।।

शत-शत सुर-नर-पति करे,
वदन शत-शत बार।
जिन बनने जिन-चरण रज,
लूँ मैं शिर पर सार।।३।।

सुर-नर-यति-पति पूजते,
सुध-बुध सभी बिसार।
गुरु गौतम गुणधर नमूँ,
उमग से उर धार ।।४।।

नमूँ भारती तारती,
उतारती उस तीर।
सुधी उतारे आरती,
हरती खलती-पीर।।५।।

तरणि ज्ञानसागर गुरो!
तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर करुणा करो,
कर से दो आशीश ।।६।।

कौरव रव-रव मे गये,
पाण्डव क्यों शिव-धाम।
स्वार्थ तथा परमार्थ का,
और कौन परिणाम?।।७।।

पारसमणि के परस से,
लोह हेम बन जाय।
पारस के तो दरस से,
मोह क्षेम बन जाय।।८।।

एक साथ लो! बैल दो
मिल कर खाते घास।
लोकतन्त्र पा क्यो लडो?
क्यो आपस मे त्रास ।।९।।

दिखा रोशनी रोष ना,
शत्रु, मित्र बन जाय।
भावो का बस खेल है,
शूल, फूल बन जाय।।१०।।

उच्च-कुलो मे जन्म ले
नदी निम्नगा होय।
शाति, पतित को भी मिले,
भाव बडो का होय ।।११।।

सूर्योदय से मात्र ना,
ऊष्मा मिले प्रकाश।
सूर दास तक को मिले,
दिशा-बोध अविनाश।।१२।।

मानव का कलकल नहीं,
कल-कल नदी निनाद।
पछी का कलरव रुचे,
मानव! तज उन्माद।।१३।।

भू पर निगले नीर मे,
ना मेढक को नाग।
निज मे रह बाहर गया,
कर्म दबाते जाग ।।१४।।

कब तक कितना पूछ ना,
चलते चल अविराम।
रुको रुको यूँ सफलता,
आप कहे यह धाम।।१५।।

जिनवर ऑखे अध-खुलीं,
जिन मे झलके लोक।
आप दिखे सब, देख ना!
स्वस्थ रहे उपयोग ।।१६।।

ऊधम से तो दम मिटे,
उद्यम से दम आय।
बनो दमी हो आदमी
कदम-कदम जम जाय।। १७।।

दोष रहित आचरण से,
चरण-पूज्य बन जाय।
चरण-धूल तक शिर चढे
मरण-पूज्य बन जाय।।१८।।

तन से मन से वचनसे,
चेतन मे अब डूब।
डूबा अब तक खूब है,
तन से अब तो ऊब।।१९।।

एक साथ सब कर्म का,
उदय कभी ना होय।
बूँद-बूँद कर बरसते,
घन, वरना सब खोय।।२०।।

नदी बदलती पथ नहीं,
जब तक मिले अनन्त।
मानव पथ क्यो बदलता,
बनकर भी हे सन्त!।।२१।।

आत्मामृत तज विषय में,
रमता क्यो यह लोक?
खून चूसता दुग्ध तज,
गो थन में क्यो जोक।।२२।।

मदन मान का मूल मन,
मूल मिटा प्रभु आप।
मदन जयी, जित मान हो,
पावन अपने आप।।२३।।

देह गेह का नेह तज,
आतम हो अनुभूत।
स्नेह जले दीपक तभी,
करे उजाला पूत।।२४।।

ज्ञान तथा वैराग्य ये
शिव-पथ-साधक दोय।
खडग ढाल ले भूप ज्यो
श्री यश धारक होय।।२५।।

नाम बने परिणाम तो
प्रमाण बनता मान।
उपसर्गो से क्यो डरा?
पार्श्व बने भगवान।।२६।।

प्रभु चरणो मे हार कर
शस्त्र डाल कर काम।
विनीत हो पूजक बना
झुक झुक करे प्रणाम ।।२७।।

तभी शूल सब फूल हो
पूजन साधन सार।
सत-सगति का फल मिले
भव-सागर का पार।।२८।।

काया का कायल नहीं,
काया मे हूँ आज।
कैसे - काया कल्प हो,
ऐसा कर तप - काज।।२६।।

छुप - छुपकर क्यो छापते,
निश्छल छवि पर छाप।
ताप - पाप सताप के,
रूप उघडते आप।।३०।।

पेटी भर ना पेट भर,
खेती कर, नाऽऽ खेट।
लोकतन्त्र मे लोक का,
सग्रह हो भरपेट।।३१।।

नम्र बनो मानी नहीं,
जीवन वर ना मौत।
वेत बनो ना वट बनो
फिर सुर-शिव-सुख का स्रोत ।।३२।।

अलख जगा कर देख ले,
विलख, विलख मत हार।
निरख, निरख निज को जरा,
हरख, हरख इस बार।।३३।।

चल, चल जिस पर विभु हुये,
चल, चल तू उस पन्थ।
चल, चल वरना बीच से,
चल चल होगा सन्त।।३४।।

वश मे हो सब इन्द्रियॉं,
मन पर लगे लगाम।
वेग बढे निर्वेग का,
दूर नहीं फिर धाम ।।३५।।

फड - फड - फड - फड बन्द कर,
पक्ष-पात के पॉंख।
सुदूर खुद मे उतर आ,
एक - बार तो झॉंक।।३६।।

शील, नसीले द्रव्य के,
सेवन से नश जाय।
सत - शास्त्र – संगति करे,
और शील कस जाय।।३७।।

जठरानल अनुसार हो,
भोजन का परिणाम।
भावो के अनुसार ही,
कर्म - बन्ध - फल् - काम ।।३८।।

नस नस मानस - रस नसे,
नसे, मोह का वश।
लसे हृदय मे बस भले,
जिनोपासना अंश।।३९।।

यम - सयम - दम - नियम ले,
कर आगम अभ्यास।
उदास जग से, दास बन –
प्रभु का सो सन्यास।।४०।।

गुरु-चरणो की शरण मे,
प्रभु पर हो विश्वास।
अक्षय - सुख के विषय मे,
सशय का हो नाश।।४१।।

स्वय तिरे, ना तारती --
कभी अकेली नाव।
पूजा नाविक की करो,
बने पूज्य तब नाव।।४२।।

नहीं व्यक्ति को पकड तू,
वस्तु - धर्म को जान।
मान तथा बहुमान दे,
विराटता का गान।।४३।।

वर्ण - लाभ वरदान है,
सकर से हो दूर।
नीर - दूध मे ले मिला,
आक - दूध ना भूल ।।४४।।

गगन चूमते शिखर है,
भू-स्पर्शी क्यो द्वार?
बता जिनालय ये रहे,
नत बन, मत मद धार।।४५।।

सार सार का ग्रहण हो,
असार को फटकार।
नहीं चालनी तुम बनो,
करो सूप-सत्कार।।४६।।

नयन – नीर लख नयन मे,
आता यदि ना नीर।
नीर पोछना पूछना,
उपरिल उपरिल पीर ।।४७।।

बडे बडे ना पाप हो,
बडी बडी ना भूल।
चमडी दमडी के लिए,
पगडी पर क्यो धूल?।।४८।।

एक तरफ से मित्रता,
सही नहीं वह मित्र।
अनल पवन का मित्र ना,
पवन अनल का मित्र।।४६।।

विगत अनागत आज का,
हो सकता श्रद्धान।
शुद्धातम का ध्यान तो,
घर में कभी न मान ।।५०।।

मात्रा मौलिक कब रही,
गुणवत्ता अनमोल।
जितना बढता ढोल हैं,
उतना बढता पोल।।५१।।

चाव – भाव से धर्म कर,
उज्ज्वल कर ले भाल।
माल नहीं पर-भाव से,
बन तू मालामाल।।५२।।

मोही जड से भ्रमित हो,
ज्ञानी तो भ्रम खोय।
नीर उष्ण हो अनल से,
कहँ उष्ण हिम होय।।५३।।

सागर का जल तप रहा,
मेघ-बरसते नीर।
बह बह वह सागर मिले,
यही नीर की पीर।।५४।।

न्यायालय में न्याय ना,
न्यायशास्त्र में न्याय।।
झूँठ छूटता, सत्य पर
टूट पडे अन्याय।।५५।।

सीमा तक तो सहन हो,
अब तो सीमा पार।
पाप दे रहा दण्ड है,
पड़े पुण्य पर मार।।५६।।

सौ सौ कुम्हडे लटकते,
बेल भली बारीक।
भार नहीं अनुभूत हो,
भले सघ गुरु ठीक।।५७।।

जिसके स्वामीपन रहे,
नहीं लगे वह भार।
निजी काय भी भार क्या?
लगता कभी कभार।।५८।।

कर्तापन की गन्ध बिन,
सदा करे कर्त्तव्य।
स्वामीपन ऊपर धरे,
ध्रुव - पर हो मन्तव्य।।५६।।

सन्तो के आगमन से,
सुख का रह न पार।
सन्तो का जब गमन हो,
लगता जगत असार।।६०।।

सुन, सुन गुरु उपदेश को ,
बुन बुन मत अघजाल।
कुन कुन कर परिणाम तू,
पुनि पुनि पुण्य सँभाल।।६१।।

निर्धनता वरदान है,
अधिक धनिकता पाप।
सत्य तथ्य की खोज मे,
निर्गुणता अभिशाप।।६२।।

नीर नीर है क्षीर ना,
क्षीर क्षीर ना नीर।
चीर चीर है जीव ना,
जीव जीव, ना चीर ।।६३।।

कर पर कर धर करणि कर,
कल कल मत कर और
वरना कितना कर चुका
कर मरना ना छोर ।।६४।।

यान करे बहरे इधर
उधर यान मे शान्त।
कोरा कोलाहल यहाँ
भीतर तो एकान्त।।६५।।

सूरज दूरज हो भले
भरी गगन मे धूल।
सर मे पर नीरज खिले
धीरज हो भरपूर।।६६।।

बान्धव रिपू को सम गिनो
सतो की यह बात।
फूल चुभन क्या ज्ञात है?
शूल चुभन तो ज्ञात।६७।।

क्षेत्र काल के विषय मे
आगे पीछे और
ऊपर नीचे ध्यान दूँ
ओर दिखे ना छोर।।६८।।

स्वर्ण - पात्र मे सिहनी
दुग्ध टिके नान्यत्र।
विनय पात्र मे शेष भी
गुण टिकते एकत्र।।६६।।

परसन से तो राग हो
हर्षण से हो दाग।
घर्षण से तो आग हो
दर्शन से हो जाग।।७०।।

माँग सका शिव माँग ले
भाग सका चिर भाग।
त्याग सका अघ - त्याग ले
जाग सका चिर जाग।।७१।।

साधुसन्त कृत शास्त्र का
सदा करो स्वाध्याय।
ध्येय मोह का प्रलय हो
ख्याति लाभ व्यवसाय।।७२।।

आप अधर मै भी अधर,
आप स्व-वश हो देव।
मुझे अधर मे लो उठा,
परवश हूँ दुर्दैव।।७३।।

मगल मे दगल बने,
पाप कर्म दे साथ।
जगल मे मगल बने,
पुण्योदय मे भ्रात।।७४।।

धोओ मन को धो सको
तन को धोना व्यर्थ।
खोओ गुण मे खो सको,
धन मे खोना व्यर्थ।।७५।।

त्रिभुवन जेता काम भी
दोनो घुटने टेक।
शीश झुकाते दिख रहा,
जिन - चरणो मे देख।।७६।।

तोल तुला मैं अतुल हूँ
पूरण वर्तुल - व्यास।
जमा रहूँ बस केन्द्र मे,
बिना किसी आयास।।७७।।

व्यास बिना वह केन्द्र ना,
केन्द्र बिना ना व्यास।
परिधि तथा उस केन्द्र का,
नाता जोडे व्यास।।७८।।

केन्द्र रहा सो द्रव्य है,
और रहा गुण व्यास।
परिधि रही पर्याय है,
तीनो मे व्यत्यास।।७६।।

व्यास केन्द्र या परिधि को,
बना यथोचित केन्द्र।
बिना हठाग्रह निरख तू,
निज मे यथा जिनेन्द्र ।।८०।।

वृषभ चिह को देखकर
स्मरण वृषभ का होय।
वृषभ-हानि को देख कर
कृषक-धर्म अब रोय।।८१।।

काला पडता जा रहा
भारत का गुरु भाल।
भारी बढता जा रहा
भारत का ऋण भार।।७२।।

वर्णो का दर्शन नहीं
वर्णो तक ही वर्ण।
चार वर्ण के थान पर
इन्द्र - धनुष से वर्ण।।८३।।

वर्ण - लाभ से मुख्य है
स्वर्ण-लाभ ही आज।
प्राण बचाने जा रहे
मनुज बेच कर लाज।।८४।।

विषम पित्त का फल रहा,
मुख का कडुवा स्वाद।
विषम वित्त से चित्त मे,
बढता है उन्माद।।७५।।

कानो से तो हो सुना,
ऑखो देखा हाल।
फिर भी मुख से ना कहे,
सज्जन की यह ढाल।।७६।।

दीप कहॉ दिनकर कहॉ,
इन्दु कहॉ खद्योत।
कूप कहॉ सागर कहॉ,
यह तोता प्रभु पोत।।८७।।

धर्म - धनिकता मे सदा,
देश रहे बल जोर।
भवन वही बस चिर टिके,
नींव नहीं कमजोर।।८८।।

बाल गले मे पहुँचते
स्वर का होता भग।
बाल गेल मे पहुँचते
पथ-दूषित हो सघ।।७६।।

बाधक शिव - पथ मे नही
पुण्य - कर्म का बन्ध।
पुण्य - बन्ध के साथ भी
शिव पथ बढे अमन्द।।६०।।

पुण्य-कर्म अनुभाग को
नही घटाता भव्य।
मोह-कर्म की निर्जरा
करता है कर्त्तव्य ।।६१।।

तभी मनोरथ पूर्ण हो
मनोयोग थम जाय।
विद्यारथ पर रूढ हो
तीन - लोक नम जाय।।६२।।

हुआ पतन बहुबार है
पा कर के उत्थान।
वही सही उत्थान है
हो न पतन सम्मान।।६३।।

सौरभ के विस्तार हो
नीरस ना रस कूप।
नमूँ तुम्हे तुम तम हरो
रूप दिखाओ धूप।।६४।।

नही सर्वथा व्यर्थ है
गिरना भी परमार्थ।
देख गिरे को हम जगे
सही करे पुरुषार्थ ।।६५।।

गगन गहनता गुम गई
सागर का गहराव।
हिला हिमालय दिल विभो!
देख सही ठहराव।।६६।।

निरखा प्रभु को, लग रहा,
बिखरा सा अघ-राज।
हलका सा अब लग रहा,
झलका सा कुछ आज।।९८।।

ईश दूर पर मैं सुखी,
आस्था लिए अभग।
ससूत्र बालक खुश रहे,
नभ मे उडे पतग।।९८।।

हृदय मिला पर सदय ना
अदय बना चिर-काल।
अदया का अब विलय हो
चाहूँ दीन दयाल[1]।।९९।।

चेतन मे ना भार है
चेतन की ना छाँव।
चेतन की फिर हार क्यो?
भाव हुआ दुर्भाव।।१००।।

चिन्ता ना परलोक की,
लौकिकता से दूर।
लोक हितैषी बस बनूँ,
सदा लोक से पूर।।१०१।।

स्थान एवं समय-संकेत

रामटेक मे, योग से,
दूजा वर्षायोग।
शान्तिनाथ की छॉव मे,
शोक मिटे, अघ रोग।।१०२।

गगन[1] - गन्ध - गति गौत्र का,
भादो – पूनम् – योग ।।
''पूर्णोदय'' पूरण हुआ,
पूर्ण करे उपयोग ।।१०३।।

१ सतशिरोमणी दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागर मुनि महाराज के द्वारा श्री शान्तिनाथ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र रामटेक (नागपुर) महाराष्ट्र में द्वितीय बार के वर्षायोग काल में गगन गन्ध २ गति ५ गोत्र २ अकाना बामतो गति के अनुसार वीर निर्वाण सवत २५२० विक्रम सवत् २०५१ की भाद्रपद शुक्ल पूर्णिमा सोमवार, १६ सितम्बर १६६४ को यह 'पूर्णोदय शतक पूर्ण हुआ।

सर्वोदय शतक

सर्वोदय शतक

कल्प - वृक्ष से अर्थ क्या?
कामधेनु भी व्यर्थ।
चिन्तामणि को भूल अब,
सन्मति मिले समर्थ।।१।।

तीर उतारो, तार दो,
त्राता! तारक वीर।
तत्त्व - तत्र हो तथ्य हो,
देव, देवतरु धीर।।२।।

पूज्यपाद गुरु पाद मे,
प्रणाम हो सौभाग्य।
पाप ताप सताप घट
और बढे वैराग्य।।३।।

भार रहित मुझ, भारती!
कर दो सहित सुभाल।
कौन सँभाले माँ बिना,
ओ माँ! यह है बाल।।४।।

सर्वोदय इस शतक का,
मात्र रहा उद्‌देश।
देश तथा पर देश भी,
बने समुन्नत देश।।५।।

पक नहीं पकज बनूँ,
मुक्ता बनूँ न सीप।
दीप बनूँ जलता रहूँ,
प्रभु-पद-पद्म-समीप।।६।।

प्रमाण का आकार ना,
प्रमाण में आकार।
प्रकाश का आकार ना,
प्रकाश मे आकार।।७।।

एक नजर तो मोहिनी,
जिससे निखिल अशान्त।
एक नजर तो डाल दो,
प्रभु! अब सब हो शान्त।।८।।

भास्वत मुख का दरस हो,
शाश्वत सुख की आस।
दासक-दुख का नाश हो,
पूरी है अभिलाष।।६।।

दृष्टि मिली पर कब बनूँ
द्रष्टा सब का धाम।
सृष्टि मिली पर कब बनूँ
सृष्टा निज का राम।।१०।।

गुण ही गुण , पर मे सदा,
खोजूँ निज मे दाग।
दाग मिटे बिन गुण कहाँ,
तामस मिटते, राग।।११।।

सुने वचन कटु पर कहाँ,
श्रमणो को व्यवधान।
मस्त चाल से गज चले,
रहे भोकते श्वान।।१२।।

मत डर, मत डर मरण से,
मरण मोक्ष - सोपान।
मत डर, मत डर चरण से,
चरण मोक्ष सुख - पान।।१३।।

सागर का जल क्षार क्यो,
सरिता मीठी सार।
बिन श्रम सग्रह अरुचि है,
रुचिकर श्रम उपकार।।१४।।

देख सामने चल अरे,
दीख रहे अवधूत।
पीछे मुडकर देखता,
उसको दिखता भूत।।१५।।

पद पखों को साफ कर,
मक्खी उडती बाद।
सर्व - सग तज ध्यान मे,
डूबो तुम आबाध।।१६।।

अँधेर कब दिनकर तले?
दिया तले वह होत।
दुखी अधूरे हम सभी,
प्रभु - पूरे सुख स्रोत।।१७।।

•

यथा दुग्ध मे घृत तथा,
रहता तिल मे तैल।
तन मे शिव है ज्ञात हो,
अनादि का यह मेल।।१८।।

हुआ प्रकाशित मै छुपा,
प्रभु हैं प्रकाश पुज।
हुआ सुवासित, महकते
तुम पद विकास कुज।।१९।।

निरे निरे जग - धर्म है,
निरे - निरे जग कर्म।
भले बुरे कुछ ना अरे!
हरे, भरे हो नर्म।।२०।।

विषयो से क्यो खेलता,
देता मन का साथ।
बॉमी मे क्या डालता?
भूल कभी निज - हाथ।।२१।।

खेत, क्षेत्र मे भेद इक,
फलता पुण्यापुण्य।
क्षेत्र करे सबका भला,
फलता सुख अक्षुण्ण।।२२।।

ऐसा आता भाव हैं,
मन मे बारम्बार।
पर दुख को यदि ना मिटा–
सकता जीवन भार।।२३।।

पल भर पर दुख देख भी–
सकते ना जिनदेव।
तभी दृष्टि आसीन है,
नासा पर स्वयमेव।।२४।।

सूखे परिसर देखते,
भोजन करते आप।
फिर भी खुद को समझते,
दयामूर्ति - निष्पाप।।२५।।

हाथ देख मत देख लो,
मिला बाहुबल पूर्ण।
सदुपयोग बल का करो,
सुख पाओ सपूर्ण।।२६।।

उगते अकुर का दिखा,
मुख सूरज की ओर।
आत्मबोध हो तुरत ही,
मुख सयम की ओर।।२७।।

दया रहित क्या धर्म है?
दया रहित क्या सत्य?
दया रहित जीवन नहीं,
जल बिन मीन असत्य।।२८।।

पानी भरते देव हैं,
वैभव होता दास।
मृग मृगेन्द्र मिल बैठते,
देख दया का वास।।२६।।

कूप बनो तालाब ना,
नहीं कूप - मडूक।
बरसाती मेढक नहीं,
बरसो घन बन मूक।।३०।।

अग्रभाग पर लोक के,
जा रहते नित सिद्ध।
जल मे ना, जल पर रहे,
घृत तो ज्ञात प्रसिद्ध।।३१।।

साधु गृही सम ना रहे,
स्वाश्रित - भाव समृद्ध।
बालक - सम ना नाचते,
मोदक खाते वृद्ध।।३२।।

तत्व दृष्टि तज बुध नहीं,
जाते जड की ओर।
सौरभ तज मल पर दिखा,
भ्रमर भ्रमित कब और ?।।३३।।

दया धर्म के कथन से,
पूज्य बने ये छन्द।
पापी तजते पाप है,
दृग पा जाते अन्ध।।३४।।

सिद्ध बने बिन शुद्ध का,
कभी न अनुभव होय।
दुग्ध पान से स्वाद क्या,
घृत का सम्भव होय?।।३५।।

स्वर्ण बने वह कोयला,
और कोयला स्वर्ण।
पाप पुण्य का खेल है,
आतम मे ना वर्ण।।३६।।

सब मे वह ना योग्यता,
मिले न सब को मोक्ष।
बीज सीझते सब कहॉं,
जैसे टर्रा मोट।।३७।।

सब गुण मिलना चाहते,
अन्धकार का नाश।
मुक्ति स्वय आ उतरती,
देख, दया का वास।।३८।।

व्यर्थ नहीं वह साधना,
जिस मे नहीं अनर्थ।
भले मोक्ष हो देर से,
दूर रहे अघ - गर्त।।३९।।

जिलेबियॉं ज्यो चासनी,
मे सनती आमूल।
दयाधर्म मे तुम सनो,
नहीं पाप मे भूल।।४०।।

सग्रह पर का तब बने
जब हो मूर्च्छा-भाव।
प्रभाव शनि का क्यो पडे?
मुनि मे मोहाभाव।।४१।।

किस किस का कर्त्ता बनूँ,
किस किस का मै कार्य।
किस किस का कारण बनूँ,
यह सब क्यो कर आर्य?।।४२।।

पर का कर्त्ता मै नही
मै क्यो पर का कार्य।
कर्त्ता कारण कार्य हूँ,
मैं निज का अनिवार्य।।४३।।

लघु-ककर भी डूबता
तिरे काष्ठ भी स्थूल।
क्यो मत पूछो तर्क से
स्वभाव रहता दूर।।४४।।

फूल फलो से ज्यो लदे,
घनी छॉव के वृक्ष।
शरणागत को शरण दे,
श्रमणो के अध्यक्ष।।४५।।

थकता, रुकता कब कहॉ,
ध्रुव मे नदी प्रवाह।
आह वाह परवाह बिन,
चले सूरि-शिव राह।।४३।।

बूँद बूँद के मिलन से,
जल मे गति आ जाय।
सरिता बन सागर मिले,
सागर बूँद समाय।।४७।।

कचन - पावन आज पर,
कल खानो मे वास।
सुनो अपावन चिर रहा,
हम सब का इतिहास।।४८।।

किस किस को रवि देखता,
पूँछे जग के लोग।
जब जब देखूँ देखता,
रवि तो मेरी ओर।।४६।।

सत्कार्यो का कार्य हैं,
शाति मिले सत्कार।
दुष्कार्यो का कार्य है,
दुस्सह दुख दुत्कार।।५०।।

बनो तपस्वी तप करो,
करो न ढीला शील।
भू-नभ-मण्डल जब तपे
बरसे मेघा नीर।।५१।।

घुट घुट कर क्यो जी रहा,
लुट लुट कर क्यो दीन।
अन्तर्धट मे हो जरा,
सिमट सिमट कर लीन।।५२।।

बाहर श्रीफल कठिन ज्यो,
भीतर से नवनीत।
जिन - शासक आचार्य को,
विनमूँ नमूँ विनीत।।५३।।

सन्त पुरुष से राग भी,
शीघ्र मिटाता पाप।
उष्ण नीर भी आग को,
क्या न बुझाता आप ?।।५४।।

ओर छोर शुरुआत ना,
घनी अँधेरी रात।
विषयो की बरसात हैं,
युगो युगो की बात।।५५।।

गात्र प्राप्त था गात्र है,
आत्म-गात्र ना प्राप्त।
आत्मबोध क्यो ज्ञात हो,
युगो युगो की बात ।।५६।।

क्या था क्या हूँ क्या बनूँ?
रे मन ! अब तो सोच।
वरना मरना वरण कर
बार बार अफसोस ।।५७।।

माना मनमाना करे
मन का धर्म गरूर।
मान-तुग के स्मरण से
मानतुग हो चूर।।५८।।

सग रहित बस ! अग है
यथाजात शिशु ढग।
श्रमण जिन्हे मम नमन हो
मानस मे न तरग।।५९।।

अत किसी का कब हुआ?
अनत सब हे सन्त।
पर ! सब मिटता सा लगे
पतझड पुन बसन्त।।६०।।

क्रूर भयानक सिह भी,
फना उठाते नाग।
तीर्थ जहाँ पर शान्त हो,
लपटो वाली आग।।६१।।

बिना मूल के चूल ना,
चूल बिना फल फूल।
रे! बिन विधि अनुकूल ये,
सभी धूल मत भूल।।६२।।

प्रभु दर्शन फिर गुरु कृपा,
तदनुसार पुरुषार्थ।
दुर्लभ जग मे तीन ये,
मिले सार परमार्थ।।६३।।

सब कुछ लखते पर नहीं,
प्रभु मे हास-विलास।
दर्पण रोया कब हँसा?
कैसा यह सन्यास?।।६४।।

बादल दलदल यदि करे
दलदल धोवन - हार।
और कौन सा दल रहा?
धरती पर दिलदार।।६५।।

तरग कम से चल रही
पल पल प्रति पर्याय।
ध्रुव पदार्थ मे पूर्व का
व्यय होता फिर आय।।६६।।

रहस्य खुलता आप जब
सहज मिटे सघर्ष।
वस्तु-धर्म के दरस से
विषाद क्यो हो हर्ष ?।।६७।।

आस्था का बस विषय है
शिव-पथ सदा अमूर्त।
वायु यान पथ कब दिखा
शेष सभी पथ मूर्त।।६८।।

किये जा रहे जोश से,
विश्व शान्ति की घोष।
दोषो के तो कोष हैं,
कहॉ किसे है होश?।।६९।।

सुना, सुनाता तुम सुनो,
सोना "सो" ना प्राण।
प्राण जगाते झट जगो,
प्राणो का हो त्राण।।७०।।

सब को मिलता कब कहॉ?
अपार श्रुत का पार।
पर ! श्रुत पूजन से मिले,
अपार भवदधि पार।।७१।।

उपादान की योग्यता,
निमित्त की भी छाप।
स्फटिक मणी मे लालिमा,
गुलाब बिन ना आप।।७२।।

पाप त्याग के बाद भी,
स्वल्प रहे सस्कार।
झालर बजना बन्द हो,
किन्तु रहे झकार।।७३।।

राम रहे अविराम निज -
मे रमते अभिराम।
राम नाम लेता रहूँ,
प्रणाम आठो याम।।७४।।

चन्दन घिसता चाहता,
मात्र गन्ध का दान।
फल की बाछा कब करे,
मुनिजन जनकल्याण।।७५।।

धर्म - ध्यान ना, शुक्ल से,
मोक्ष मिले आखीर।
जितना गहरा कूप हो,
उतना मीठा नीर।।७६।।

आकुल व्याकुल कुल रहा,
मानव सकुल कूल।
मिला न अब तक क्यो मिले,
प्रतीति जब प्रतिकूल।।७७।।

खून ज्ञान, नाखून से,
खून रहित नाखून।
चेतन का सधान तन,
तन चेतन से न्यून।।७८।।

आत्मबोध घर मे तनक,
रागादिक से पूर।
कम प्रकाश अति धूम्र ले,
जलता अरे कपूर।।७९।।

लगडा भी सुरगिरि चढे,
चील उडें इक पाख।
जले दीप, बिन तेल ना,
ना घर मे अक्षय ऑख।।८०।।

लगाम अकुश बिन नहीं
हय गय देते साथ।
व्रत श्रुत बिन मन कब चले
विनम्र कर के माथ।।८१।।

भटकी अटकी कब नदी?
लौटी कब अधबीच?
रे मन! तू क्यो भटकता?
अटका क्यो अघकीच?।।८२।।

भले कूर्मगति से चलो
चलो कि ध्रुव की ओर।
किन्तु कूर्म के धर्म को
पालो पल पल और।।८३।।

भक्त लीन जब ईश मे
यूँ कहते ऋषि लोग।
मणि - काचन का योग ना
मणि-प्रवाल का योग।।८४।।

खुला खिला हो कमल वह,
जब लौं जल सपर्क।
छूटा सूखा धर्म बिन,
नर पशु में ना फर्क।।८५।।

मन्द मन्द मुस्कान ले,
मानस हंसा होय।
अश अश प्रति अश मे,
मुनिवर हंसा मोय।।८६।।

गोमाता के दुग्घसम,
भारत का साहित्य।
शेष देश के क्या कहे,
कहने मे लालित्य।।८७।।

उन्नत बनने नत बनो,
लघु से राघव होय।
कर्ण बिना भी धर्म से,
विजयी पाण्डव होय।।८८।।

पुन भस्म पारा बने
मिले खटाई योग।
बनो सिद्ध पर-मोह तज
करो शुद्ध उपयोग।।८६।।

माध्यस्था हो नासिका
प्रमाणिका नय ऑख।
पूरक आपस मे रहे
कलह मिटे अघ-पाक।।६०।।

तन की गरमी तो मिटे
मन की भी मिट जाय।
तीर्थ जहॉ पर उभय - सुख
अमिट अमित मिल जाय।।६१।।

अनल सलिल हो विष सुधा
व्याल - माल बन जाय।
दया मूर्ति के दरस से
क्या का क्या' बन जाय।।६२।।

सुचिर काल से सो रहा,
तन का करता राग।
ऊषा सम नर जन्म है,
जाग सके तो जाग।।६३।।

पूर्ण पुण्य का बन्ध हो,
पाप - मूल मिट जात।
दलदल पल मे सब धुले,
भारी हो बरसात।।६४।।

कुछ पर - पीडा दूर कर,
कुछ पर को दे पीर।
सुख पाना जन (जब) चाहते,
तरह तरह तासीर।।६५।।

दुर्जन से जब भेट हो,
सज्जन की पहचान।
ग्रहण लगे जब भानु को
तभी राहु का भान।।६६।।

तीरथ जिसमे अघ घुले
मिलता भव का तीर।
कीरत जग भर मे घुले
मिटती भव की पीर।।९७।।

सत्य कार्य कारण सही
रही अहिंसा-मात।
फल का कारण फूल हैं
फूल बचाओ भ्रात।।९८।।

अर्कतूल का पतन हो
जल - कण का पा सग।
कण या मन के सग से
रहे न मुनि पासग।।९९।।

जिसके उर मे प्रभु लसे
क्यो न तजे जड राग।
चन्द्र मिले फिर ना करे
चकवा चकवी त्याग ?।।१००।।

स्थल एवं समय-संकेत

उदय नर्मदा का जहाँ,
आम्र-कूट की मोर।
सर्वोदय का शतक का,
उदय हुआ है भोर।।१०१।।

गगन[1]-गन्ध-गति-गोत्र की,
अक्षय तृतिया पर्व,
पूर्ण हुआ शुभ सुखद है,
पढे सुने हम सर्व।।१०२।।

१ सतशिरोमणी दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागर मुनि महाराज के द्वारा नर्मदा नदी के उद्गमस्थल तथा आम्रकूट वन की मोर के लिए सुप्रसिद्ध 'सर्वोदय तीर्थ अमरकण्टक शहडोल म प्र मे गगन ० गन्ध २ गति ५ गोत्र २ अकाना बामतो गति के अनुसार वीर निर्वाण सवत् २५२० , विकम सवत् २०५१ की वैशाख शुक्ल तृतीया अक्षयतृतीया पर्व ,शुकवार , १३ मई १९९४ को यह सर्वोदय शतक पूर्ण हुआ ।

प्रारंभिक रचनाएँ

आचार्य श्री शान्ति सागर महाराज के पावन चरणों में सविनय श्रद्धाजलि
बसन्ततिलका छन्द

मैसूर राज्य अविभाज्य विराजता औ
शोभामयी - नयन मन्जु सुदीखता जो।
त्यो शोभता मुदित भारत - मेदिनी मे
ज्यो शोभता मधुप - फुल्ल सरोजिनी मे।।१।।

है बेलगॉव सुविशाल जिला निराला
सौन्दर्य – पूर्ण जिसमे पथ हैं विशाला।
अभ्रलिहा परम उन्नत सौधमाला
जो है वहॉ अमित उज्ज्वल औ उजाला।।२।।

है पास भोज इसके नयनाभिराम
राकेन्दु-सा अवनिमे लखता ललाम ।
श्रीभाल मे ललित कुकुम शोभता ज्यो
औ भोज भी अवनि मध्य सुशोभता त्यो।। ३।।

आके मिली विपुल निर्मल नीर वाली
हैं भोज मे सरित दो सुपयोज वाली।
विख्यात है इक सुनो वर दूध गगा
दूजी अहो! सरस शान्त सु वेदगगा ।। ४।।

श्रीमान् महान् विनयवान् बलवान् सुधीमान्,
श्री 'भीमगौड' मनुजोत्तम औ दयावान्।
सत्यात्म थे, कुटिल आचरणज्ञ ना थे,
जो भोज मे कृषि कला अभिविज्ञ वा थे।।५।।

नीतिज्ञ थे, सदय थे, सुपरोपकारी,
पुण्यात्म थे सकल मानव हर्षकारी।
जो लीन धर्म अरु अर्थ सुकाम मे थे,
औ वीरनाथ वृष के वर भक्त यों थे।।६।।

श्री भीमगौड ललना अभि सत्यरूपा,
थी काय कान्ति जिसकी रति - सी अनूपा।
सीता समा, गुणवती, वर नारि रत्ना,
जो थी यहाँ नित नितान्त सुनीतिमग्ना।।७।।

नाना कला निपुण थी मृदुभाषिणी, थीं
शोभावती मृगदृगी गतमानिनी थी।
लोकोत्तरा छविमयी तनवाहिनी थी,
सर्वसहा-अवनि-सी समतामयी थी।।८।।

मन्दोदरी सम सुनारि सुलक्षिणी थी,
श्री प्राणनाथ - मद - आलस - हारिणी थी।
हॅसानना शशिकला मनमोहिनी थी,
लक्ष्मी समान जग सिहकटी सती थी।।६।।

हीरे समा नयन रम्य सुदिव्य अच्छे,
थे सूर्य चन्द्र सम तेज, सुशान्त बच्चे।
जन्मे दया भरित नारि सुकूँख से थे,
दोनो अहो ! परम सुन्दर लाडले थे।।१०।।

था ज्येष्ठ पुष्ट अतिहृष्ट सु-देवगौडा,
छोटा बडा चतुर बालक 'सातगौडा'।
दोनो अहो ! सुकुल के यश-कोश ही थे,
या प्रेम के परम-पावन-सौध ही थे।।११।।

होता विवाह पर शैशवकाल मे ही,
पाती प्रिया अनुज की द्रुत मृत्यु यो ही।
बीती कई तदुपरान्त अहर्निशाये,
जागी तदा नव-विवाह सुयोजनायें।।१२।।

तो देख दृश्य वह बालक सोचता है,
है पक ही नव विवाह, न रोचता है।
दुर्भाग्य से सघन-कर्दम में फँसा था,
सौभाग्य से बच गया, यह तीव्र साता।।१३।।

माँ ! मात्र एक ललना चिर से बची है,
वैसी न नीरज मुखी अब लो मिली है।
हो चाहती मम विवाह मुझे बता दो,
जल्दी मुझे अहह ! अब ! शिवागना दो।।१४।।

इत्थ कहा द्रुत तदा वच भी स्व-माँ को,
निर्भीक भीम-सुत ने सुमृगाक्षिणी को।
जो भीमगौड पति की अनुगामिनी थी,
औ कुन्दिता-मुकुलिता-दुखवाहिनी थी।।१५।।

काँटे मुझे दिख रहे घर मे अहो! माँ,
चाहूँ नहीं घर निवास, अत सुनो माँ।
है जैनधर्म जग सार, पुनीत भी है,
माता ! अत मुनि बनूँ यह ही सही है।।१६।।

तू जायगा यदि अरण्य अरे सबेरे,
उत्फुल्ल-लोल-कल-लोचन-कज मेरे
बेटा ! अरे ! लहलहा कल ना रहेंगे,
होगे न उल्लसित औ न कभी खिलेंगे।।१७।।

रोती, सती, बिलखती, गत-हर्षिणी थी,
जो सातगौड जननी, गजगामिनी थी।
बोली निजीय सुत को नलिनीमुखी यो,
ओ पुत्र ! सन्मुख तथा रख दी व्यथा यो।।१८।।

माता अहो ! भयानक-काननी मे,
कोई नहीं शरण है इस मेदिनी मे।
सद्धर्म छोड सब ही दुखदायिनी है,
वाणी जिनेन्द्र कथिता सुखदायिनी है।।१९।।

माधुर्य-पूर्ण समयोचित भारती को,
मॉ को कही सजल-लोचन-वाहिनी को।
रोती तथा बिलखती उर पीट लेती,
जो बीच बीच रुकती, फिर श्वॉस लेती।।२०।।

विद्रोह, मोह, निज-देह-विमोह छोडा,
आगे सुमोक्ष-पथ से अति नेह जोडा।
'देवेन्द्रकीर्ति' यति, से वर भक्ति साथ,
दीक्षा गही, वर लिया, वर मुक्ति पाथ।।२१।।

गम्भीर, पूर्ण, सुविशाल - शरीरधारी,
ससार-त्रस्त जन के द्रुत आर्तहारी।
औ वश-राष्ट्र-पुर देश सुमाननीय,
जो थे सु-'शान्ति' यतिनायक वन्दनीय।।२१।।

विद्वेष की न इसमे कुछ भी निशानी,
सत्प्रेम के सदन थे, पर थे न मानी।
अत्यन्त जो लसित थी, इनमे (अ) नुकम्पा,
आशा तथा मुकुलिता अरु कोष चपा।।२२।।

थे दूर नारि कुल से, अति-भीरू यों थे,
औ शील-सुन्दर-रमापति किन्तु जो थे।
की आपने न पर या वृष की उपेक्षा
थी आपको नित शिवालय क़ी अपेक्षा।।२४।।

स्वामी, तितिक्षु, न बुभुक्षु, मुमुक्षु जो थे,
मोक्षेच्छु रक्षक, न भक्षक, दक्ष औ थे।
यानी, सुधी, विमल-मानस-आत्मवादी
शुद्धात्म के अनुभवी, तुम अप्रमादी।।२५।।

निश्चित हो, निडर निश्चल, नित्य भारी,
थे ध्यान-मौन धरते तप औ करारी। ·
थे शीत ताप सहते, गहते न मान,
ते सर्वदा स्वरस का करते सुपान।।२६।।

शालीनतामय सुजीवन आपका था,
आलस्य, हास्य विनिवर्जित शस्य औ था।
थी आपमें सरसता व कृपालुता थी,
औ आप मे नित नितान्त कृतज्ञता थी।।२७।।

थे आप शिष्ट, वृषनिष्ठ, वरिष्ठयोगी,
सतुष्ट थे, गुणगरिष्ठ, बलिष्ठ यो भी।
थे अन्तरग, बहिरग, निसग नगे,
इत्थ न हो यदि, कुकर्म नहीं कटेगे।। २८।।

था स्वच्छ, अच्छ व अतुच्छ चरित्र तेरा,
था जीवनातिभजनीय पवित्र तेरा।
ना कृष्य देह तब जो तप साधना से,
यो चाहते मिलन आप शिवागना से।।२६।।

प्राय कदाचरण युक्त अहो धरा थी,
सन्मार्ग रूढ मुनि मूर्ति न पूर्व मे थी।
चरित्र का नव नवीन पुनीत पथ,
जो भी यहॉ दिख रहा तव देन सत।।३०।।

ज्ञानी विशारद सुशर्म पिपासु साधु,
औ जो विशाल नर नारि समूह चारु।
सारे विनीत तव पाद-सुनीरजो मे,
आसीन थे भ्रमर से निशि मे, दिवा मे।।३१।।

ससार सागर असार अपार खार,
गम्भीर पीर सहता इह बार-बार।
भारी कदाचरण भार विमोह धार,
धिक् धिक् अत अबुध जीव हुआ न पार।।३२।।

थे शेडबाल गुरुजी इक बार आये,
इत्थ अहो सकल मानव को सुनाये।
"भारी प्रभाव मुझ पै तब भारती का,
देखो पडा इसलिये मुनि हूँ अभी का"।।३३।।

अच्छे बुरे सब सदा न कभी रहे हैं,
औ जन्म भी मरण भी अनिवार्य ही है।
आचार्यवर्य गुरुवर्य समाधि लेके,
सानन्द देह तज 'शान्ति गये अकेले।।३४।।

छाई अत दुख निशा ललना-जनो मे,
औ खिन्नता, मलिनता, भयता नरो मे ।
आमोद हास सविलास विनोद सारे,
है लुप्त मगल सुवाद्य अभी सितारे।। ३५।।

सारी विशाल जनता महि मे दुखी है,
चिन्ता-सरोवर-निमज्जित आज भी है।
चर्चा अपार चलती दिन रैन ऐसी,
आई भयानक परिस्थिति हाय! कैसी?।।३६।।

फैली व्यथा, मलिनता, जनता-मुखो मे
हा! हा! मची रुदन भी नर नारियो मे।
क्रीडा उमंग तज के वय बाल बाला,
बैठी अभी वदन को करके सुकाला।।३७।।

हे ! तात !! घात !! पविपात !! हुआ यहॉ पै,
आचार्यवर्य गुरुवर्य गये कहॉ पै?
जन्मे सुरेन्द्रपुर में, दिवि मे जहाँ पै,
हूँ भेजता 'स्तुति सरोज' अत वहॉ पै।।३८।।

सतोष-कोष गत रोष "सुशान्ति-सिन्धु',
मैं बार-बार तब पाद सरोज वन्दूँ।
हूँ "ज्ञान का प्रथम शिष्य", अवश्य बाल,
"विद्या" सुशान्ति पद मे धरता स्व-भाल।।३६।।

श्री शान्तिसागराय नमः

आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज के पावन चरणारविन्द में हार्दिक श्रद्धाजलि

बसन्ततिलका छन्द

अत्यन्त है ललित हैदरबाद राज
साक्षात् यहाँ मुदित भारत-शीश ताज।
औरगवाद सुविशाल जिला निराला
देखो जहाँ कलह का न कभी सवाला।।१।।

है ईर सुन्दर यहाँ इसके समाना
है ही नहीं सुरपुरी दिवि मे सुभाना।
आते सदा निरखने इसको सुजाना
शोभामयी परम-वैभव का खजाना।।

जो श्री जिनालय सुमुन्नत ईर मे है
मानो कहीं नभ रमा मुख चूमते है।
प्रक्षाल पूजन तथा जिन गीत गाते
तो कर्म को सब मुमुक्षु जहाँ खपाते।।३।।

जो श्रेष्ठ सेठ वृष-निष्ठ सुईर मे थे
दानी निरन्तर सुलीन सुधर्म मे थे।
था रामचन्द्र जिनका वह श्राव्य नाम
नामानुरूप अभिराम गुणैक धाम।।४।।

धर्मात्म थे, सदय थे, सुपरोपकारी,
षट्कर्म लीन नित थे बुध चित्तहारी।
सतोष के सदन थे विनयी, कृपालु,
सत्कार्य मे रत कृतज्ञ, सदा दयालु।।५।।

श्री रामचन्द्र ललना मनमोहिनी थी,
सीता समा, परम-शील-शिरोमणी थी।
शोभावती मदन को प्रमदारती थी,
चद्रानना, परम-भाग्यवती, सती थी।।६।।

हीरे समा-नयन रम्य सुदिव्य अच्छे,
थे सूर्य-चन्द्र-सम तेज सुशात अच्छे।
जन्मे दया भरित-नारि सुकूँख से थे,
दोनो अहो! परम सुन्दर लाडले थे।।७।।

जो जेष्ठ, पुष्ठ अति हृष्ठ 'गुलाबचन्द्र'
'हीरादिलाल' लघु भाग्यवती सुनन्द।
दोनो अहो! सुकूल के यश-कोष ही थे,
या प्रेम के परम-पावन-सौध ही थे।।८।।

तू यौवनोपवन मे स्थित दर्शनीय,
तेरा विवाह करना अति श्लाघनीय।
तू हो गया अब बडा अवलोकनीय,
नक्षत्र बीच शशि ज्यो, अति शोभनीय।।९।।

आयोजना विविध है, बहु है विशेष
सासू मुझे अब रहा बननाऽवशेष।
ऐसा निजीय लघु बालक को सुनाया
मानो सुभाग्यवति ने मन को दिखाया।।१०।।

चाहूँ नही विभव अम्ब! तथा विवाह,
कैसे फँसू विषय मे, मम है न चाह।
मेरा विवाह इस जीवन मे न होगा।
जो आपका यतन व्यर्थ अवश्य होगा।।११।।

ऐसा विचार सुत का सुन भाग्यमाता,
रोती कही, उदय मे मम क्यो असाता?
ऐसा कुमार कह रे! मत हा! मुझे तू,
क्यो दे रहा दुसह दुख वृथा मुझे तू।।१२।।

छूटी तभी युगल लोचन नीर-धार,
हा हा! हुई व्यथित भाग्यवती अपार।
रोती घनी बिलखती उर पीट लेती,
औ बीच-बीच रुक के चिर श्वास लेती।।१३।।

ससार के विषय तो विष हैं सुनो माँ,
क्या मारना चह रही मुझको कहो माँ!
अत्यन्त दु ख सहता मम जीव आया,
भारी मुझे विषय सेवन ने सताया।।१४।।

है नारकी नरक में मुझको बनाया,
माता! निगोद तक भी उसने दिखाया
यो हीरलाल जिसने निज-भाव गाया,
वैराग्यपूर्ण उपदेश उन्हे सुनाया।।१५।।

ससार को विषम जान अनित्य मान,
औ निन्द्य हेय निजघातक दुख जान।
आगे वहाँ चल दिया वह हीरलाल,
थे शांतिसागर जहाँ गुरु जो निहाल।।१६।।

हीरादिलाल वह जा गुरु शाति पास
दीक्षा गही तव किया निज मे निवास।
तो वीरसागर सुसार्थक नाम पाया
वीरत्व को जगत सम्मुख भी दिखाया।।१७।।

नादान दीन मतिहीन न धर्महीन
स्वामी! अत स्तुति लिखूँ तब मै नवीन।
तो आपके स्तवन से निज को लखूँगा
मैं अत मे करम काट सुखी बनूँगा।।१८।।

श्री वीरसागर सुधीर महान वीर
थे नीर राशि सम आप सदा गभीर।
स्वामी सुदूर करते जग-जीव-पीर
पीते सदा परम-पावन धर्म-नीर।।१९।।

स्त्री आपकी परम सुन्दर जो क्षमा थी।
सेवा सदैव तव थी करती रमा-सी।
स्वामी! सहर्ष उस सग सदा विनोद
मोक्षार्थ मात्र करते गहते प्रमोद।।२०।।

आहार मात्र तप वर्धन हेतु लेते
थे एक बार तन को तन का हि देते।
मिष्ठान्न को पर कभी मन मे न लाते,
स्वामी नहीं इसलिये रस-राज खाते।।२१।।

छयालीस दोष तज के अरु मौन धार
जैसा मिले अशन ने यह योग सार।
शास्त्रानुकूल वह भी दिन मे खडे हो,
लेते अत परम-पूज्य हुए बडे हो।।२२।।

आधार थे सकल मानव के यहॉ पै,
जैसे सुनींव घर की रहती धरी पै।
निर्दोष था तब पुनीत अखड शील,
था आपका हृदय तो अतिशात झील।।२३।।

श्रद्धान जैन मत का तुमको सदा था,
सद्ज्ञान 'शान्ति गुरू से तुमको मिला था।
चारित्र तो तब यहॉ किसको छिपा था,
तेरे झुके चरण मे मम मात्र माथा।।२४।।

त्रैलोक्य को मदन यद्यपि जीत पाया,
था आपका वह नहीं पर पास आया।
क्या सिह के निकट भी गज यूथ जाता?
जाके कभी स्वबल से उसको सताता?।।२५।।

शुद्धात्म मे रत सदा, दिन मे न सोते,
थे किन्तु आप दिन रैन कुकर्म खोते।
थी आपकी परम मार्दव धर्म-शय्या,
थे नाव के मम यहाँ तुम ही खिवैया।।२६।।

निर्मेघ-नील-नभ मे शशि-बिब जैसा
शोभायमान तब जीवन नित्य वैसा।
स्वामी कभी न पर दोष उछालते थे
वे बार-बार पर मे गुण ढूँढते थे।।२७।।

आराध्य की सतत थे करते सुभक्ति
कैसे मिले उस बिना निज को सुमुक्ति।
तेरी अत कठिन दुर्लभ साधना थी,
थी स्वर्ग की न तुमको शिव-कामना थी।।२८।।

स्वाध्याय लीन रहते निज दोष धोते,
साधर्मि को लख सदा परितृप्त होते।
आराधनामय हुताशन से जलाते,
कालुष्य राग-तृण को तब आत्म ध्याते।।२६।।

नि स्वार्थतामय सुजीवन आपका था,
मिथ्यात्व क्षोभ अरु लोभ विहीन भी था।
उत्तुग मेरुगिरी सादृश कपहीन,
थे नित्य ध्यान धरते तप मे सुलीन।।३०।।

थे बीस-आठ गुणधारक अप्रमादी,
थी आपने सकल ग्रन्थि अहो! हटा दी।
अत्यन्त शात, गत-क्लात, नितात शस्य,
थे आप, हैं सब तुम्हे नमते मनुष्य।।३१।।

थे भद्र ! भव्य, अघनाशक, प्रेम - धाम,
था द्वेष का न तुममे कुछ भी विराम।
सतोष से हृदय पूरित आपका था,
कौटिल्य से विकल नाम न पाप का था।।३२।।

वात्सल्य था हृदय मे पर था न शल्य
स्वामी अत अवनि मे तुम तोष-कल्य।
आरम्भ दम्भ मय था न चरित्र तेरा
तेरे रहे चरण मे यह शीश मेरा।।३३।।

आदर्श से विमल उज्ज्वल थे प्रशस्त
दुर्ध्यान से रहित थे नित आत्म-व्यस्त।
विद्यानुमडित रहे जग-दुख-हारी
विद्या न दर्शन किया तव खेद भारी॥।।३४।।

था आप मे सकल-सयम ओत-प्रोत
ससार मे तरण-तारण आप पोत।
की आपने न कब भी पर की अवज्ञा
टाली सु- शाति गुरु की न कदापि आज्ञा।।३५।।

देते कभी न रिपु को अभिशाप आप
लाते नहीं हृदय मे परिताप पाप।
स्वामी कभी समय का न कियाऽपलाप
आलस्य त्याग जपते जिन-इन्द्र जाप।।३६।।

थे आप शिष्ट, वृष-निष्ठ, वरिष्ठ योगी,
सतुष्ट औ गुण-गरिष्ठ, बलिष्ठ यो भी।
थे अन्तरग-बहिरग निसग नगे,
इत्थ न हो यदि कुकर्म नहीं कटेगे।।३७।।

सूई समान व्यवहार करो सभी ही,
कैची समान व्यवहार नहीं कभी भीं
ऐसा सुभाषण सदा सबको सुनाते,
श्री वीर-नाथ-पथ को सबको दिखाते।।३८।।

थे आपके प्रथम शिष्य 'शिव' शर्म योगी,
दूजे सुपूज्य 'जयसागरजी' निरोगी।
हैं विद्यमान 'श्रुतसागर' सिद्ध मूर्ति,
औ 'पद्म' 'सन्मति' मुनीश्वर 'धर्म' स्फूर्ति।।३६।।

अच्छे बुरे सब सदा न कभी रहे हैं,
तो जन्म भी मरण भी अनिवार्य ही है।
आचार्य-वर्य, गुरुवर्य समाधि ले के,
सानन्द देह तज "वीर" गये अकेले।।४०।।

हे तात! घात!! पविपात!! हुआ यहाँ पै,
आचार्य-वर्य गुरुवर्य गये कहाँ पै?
जन्मे सुरेन्द्र-पुर में, दिवि में जहाँ पै,
हूँ भेजता "स्तुति-सरोज" अत: वहाँ पै।।४१।।

श्री वीरसागर सुभव्य-सरोज बन्धू,
मैं बार-बार तव-पद-पयोज वंदूँ।।
हूँ 'ज्ञान का प्रथम-शिष्य' अवश्य बाल,
'विद्या' सुवीर-पद मे धरता स्वभाल।।४२।।

श्री वीरसागराय नम:

आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज के पावन चरणारविन्द में विनम्र श्रद्धांजलि

मन्दाक्रान्ता छन्द

'औरगावाद' सुरपुर-सा, अत्यन्त जो दर्शनीय,
शोभावाला, निकट उसके, भूरि जो शोभनीय।
छोटा सा है 'अडपुर' जहाँ, न्यायमार्गाभिरूढ,
धर्मात्मा हैं, जनगण अहो! जो रहे हैं अमूढ।।१।।

धर्मात्मा थे, इस अडपुरी, मे सु-नेमी' सुधी थे,
पुण्यात्मा थे, अरु सदय थे, प्रेम कागार भी थे।
दानी औ थे, नर कुशल थे, द्वेष से दूर भी थे,
श्रद्धानी थे, वृषभ वृष के, मोद के पुज भी थे।।२।।

तन्वगी थी, वर मृगदृगी, और थी नारि रत्ना,
रत्नो मे जो, परम अरुणान्वीत जैसा सुपन्ना।
या मानो थी, गुरुतमरसी-ली यथा यों सुगन्ना,
नेमी की थी, 'दगडललना', जो सदा नीतिमग्ना।।३।।

हीरा से भी, परमरुचिवाला हिरालाल बच्चा,
जन्मा था जो, उन नृवर से, था तथा भूरि सच्चा।
कांति ज्योति, कल वदन की, नेमीपुत्राग की थी,
वैसी शोभा, नयन रुचिरा, कृष्ण की भी नहीं थी।।४।।

धीरे धीरे, शिशुपन टला, जो अतिल्हादकारी,
आई दौडी, दगड-सुत मे, जो जवानी करारी।
प्राय सारे, तव वदन को, देख के जो कुँवारी,
होती थी वे, कुसुमशर के, काम के हा शिकारी।।५।।

बेटा तू तो, अब शिशु नहीं, तू बडा हो गया है,
बेटा तेरा, यह समय तो, दर्प का आ गया है।
ज्यो माँ बोली, अरु पितर भी, स्वीय हीरा रवी को,
त्यो ही बोला, उचित वच भी, नेमिसूनू स्व-माँ को।।६

देखो माँ जो, इक सुललना, जो बची है सदा से,
मेरी शादी, यदि हि करना, चाहती तो मुदा से।
मैं राजी हूँ, द्रुत तुम करो, मोक्ष-रूपी रमा से,
ऐसा बोला, परम सुकृती, नेमिसूनू स्व माँ से।।७।।

मेरा जी तो, शिव युवति से, मेल है चाहता माँ!
वैसी नारी, अब तक नहीं, देखने को मिली माँ।
ऐसी स्त्री की, इस अवनि मे, है नहीं प्रोपमा माँ!
तो कैसे मै, इस भवन मे, जी सकूँ मोद से माँ!!।।८।।

धारा भारी, सजल दृग से, मोचती नेमि-रामा,
रोती बोली, अति बिलखती, नेमिकान्ताविरामा।
सासू तो मैं, इस सदन मे, हो रहूँ एक बार,
ऐसी इच्छा, मम हृदय मे, हो रही बार-बार।।६।।

प्यारे बेटा, सुन वचन तो, तू कहॉ जा रहा है,
मेरा जी तो, तब विरह से, कष्ट हा! पा रहा है।
एकाकी तू, वन गहन मे, हा! न जा लाल मेरा,
कैसा होता, सुतप तपना, खिन्न भी काय तेरा।।१०।।

जावेगा तो, यदि कुँवर तू, प्राण मेरे चलेगे,
मेरे दोनो, दृग जलज तो, जो कभी न खिलेगे।
मेरी काया, किसलय-समा, शुष्कता को वरेगी,
या तो हा!हा! लघु समय मे, कॉतिहीना दिखेगी।।११।

देखो मॉ जी, भव विपिन मे, हाय! तेरा न मेरा,
प्राय सारे, बुद-बुद समा, औ तथा पुत्र तेरा।
मैं तो मॉ जी, श्रमण बन के, धर्म का स्वाद लूॅगा,
दीक्षा लेके, सुशमदम से, दिव्य आत्मा लखूँगा।।१२।।

मीठी वाणी सुरस भरिता भूरि माँ को सुनाया
औ भी अच्छे वचन कह के धैर्य माँ को दिलाया।
माता जी के स्मित वचन से दुख को भी दबाया
प्राय माँ को जिन धरम का पाठ भी औ पढाया।।१३

नाता तोडा स्वजन-चय का भूरि जो कष्टदायी
सारा छोडा विषय विष को जो अति क्लान्तदायी।
आगे देखो परम गुरु से वीर सिन्धू यती से
दीक्षा लेके शिव मुनि हुआ मोद पाया वहीं से।।१४।

भव्यात्मा थे मुनिगणमुखी थे अत साधु नेता
शाति के थे निलय गुरुजी दर्प के थे विजेता ।
आचार्य श्री शिवपथरति थे बडेध्यात्मवेत्ता।
सत्यात्मा थे करण--नग के भी बडे वे सुभेत्ता।।१५।।

शुद्धात्मा के तुम अनुभवी थे अत-अप्रमादी
सतोषी थे वृष रसिक थे औ अनेकान्तवादी।
स्वप्नो मे भी न तुम करते दूसरे की अपेक्षा
खाली देखो शिवसदन की आपको थी अपेक्षा।।१६।।

मोक्षार्थी थे, जिनभजक थे, साम्यवादी तथा थे,
ध्यानी भी थे, परहित-रती, सानुकम्पी सदा थे।
भव्यो को थे, शिवसदन का, मार्ग भी औ दिखाते,
सन्तो के तो, शिवगुरु यहाँ, जीवनाधार ही थे।।१७।।

साथी को भी, अरु अहित को, देखते थे समान,
थोडा सा भी, तब हृदय मे, स्थान पाया न मान।
दीक्षा दे के, कतिपय जनो, को बनाया सुयोगी,
औ पीते थे, वृष अमृत को, चाव से थे विरागी।।१८।।

कामारी थे, शिवयुवति से, मेल भी चाहते थे,
नारी से तो, परम डरते, शील-नारीश भी थे।
ज्ञानी भी थे, सुतप तपते, देह से कृश्य भी थे,
मुक्ति श्री को, निशिदिन तभी, पास मे देखते थे।।१६।

माथा रूपी, शिवफल तजूँ, आपके पादको मे,
श्रद्धारूपी, स्मित कुसुम को, मोचता हूँ तथा मैं।
मुद्रा है जो, शिवचरण मे, औ रहे नित्य मेरी,
प्यारी मुद्रा, मम हृदय मे, जो रहे हृद्य तेरी।।२०।।

छाई फैली शिव-रवि छिपी गाढ दोषा अमा की
आई दौडी घन दुख घटा ले अमा फागुना की।
आचार्य श्री अब इह नहीं जो बडे थे सुसौम्य
जन्मे है वे अमरपुरि मे है जहॉ स्थान रम्य।।२१।।

पाया मैं तो तव दरश ना जो बडा हूँ अभागा
ज्ञानी होऊँ तव भजन को किन्तु मैं तो सुगा गा।
मैं पोता हूँ, भव जलधि के आप तो पोत दादा
विद्या की जो शिवगुरु अहो दो मिटा कर्मबाधा।।२२

श्री शिवसागराय नम

आचार्य श्री गुरुवर्य प्रात स्मरणीय

श्री ज्ञानसागरजी मुनि महाराज के
पावन चरणो मे सादर श्रद्धांजलि

गुरो ! दल दल मे मै था फॅसा,
मोह-पाश से हुआ था कसा।
बन्ध छुडाया, दिया आधार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार।।१।।

पाप पक से पूर्ण लिप्त था,
मोह नींद मे सुचिर सुप्त था।
तुमने जगाया किया उपचार, •
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार।।२।।

आपने किया महान उपकार,
पहनाया मुझे रतन-त्रय हार।
हुए साकार मम सब विचार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार।।३।।

मैंने कुछ ना की तब सेवा,
पर तुमसे मिला मिष्ठ मेवा।
यह गुरुवर की गरिमा अपार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार।।४।।

निज-धाम मिला, विश्राम मिला,
सब मिला, उर समकित-पद्म खिला।
अरे! गुरुवर का वर उपकार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार।।५।।

अँधा था, बहिरा था, था मै अज्ञ,
दिये नयन व करण, बनाया विज्ञ।
समझाया मुझको समयसार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार।।६।।

मोह-मल धुला, शिव-द्वार खुला,
पिलाया निजामृत घुला-घुला।
कितना था गुरुवर उर-उदार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार।।७।।

प्रवृत्ति का परिपाक ससार,
निवृत्ति नित्य सुख का भडार।
कितना मौलिक प्रवचन तुम्हार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार।।८।।

रवि से बढकर है काम किया,
जन-गण को बोध प्रकाश दिया।
चिर ऋणी रहेगा यह ससार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार।।९।।

स्व-पर हित तुम लिखते ग्रन्थ,
आचार्य उवझाय थे निर्ग्रन्थ।
तुम सा मुझे बनाया अनगार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार।।१०।।

इन्द्रिय-दमन कर कषाय-शमन,
करते निशदिन निज मे ही रमण।
क्षमा था तव सुरम्य शृगार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार।।११।।

बहु कष्ट सहे, समन्वयी रहे,
पक्षपात से नित दूर रहे।
चूँकि तुममे था साम्य-सचार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार।। १२।।

मुनि गावे तव-गुण-गण गाथा
झुके तुम पाद मे मम माथा।
चलते चलाते समयानुसार
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार।।१३।।

तुम थे द्वादश विध तप तपते
पल पल जिनप नाम जप जपते।
किया धर्म का प्रसार-प्रचार
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार।।१४।।

दुर्लभ से मिली यह ज्ञान सुधा
विद्या पी इसे मत रो मुधा।
कहते यो गुरुवर यही सार
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार।।१५।।

व्यक्तित्व की सत्ता मिटा दी
उसे महासत्ता मे मिला दी।
क्यो न हो प्रभु से साक्षात्कार
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार।।१६।।

करके दिखा दी सल्लेखना,
शब्दो मे न हो उल्लेखना।
सुर, नर कर रहे जय जयकार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार।।१७।।

आधि नहीं थी, थी नहीं व्याधि,
जब आपने ली परम-समाधि।
अब तुम्हे क्यो न वरे शिवनार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार।।१८।।

मेरी भी हो इस विध समाधि,
रोष-तोष नशे, दोष उपाधि।
मम आधार, सहज समयसार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकर।।१९।।

जय हो ज्ञानसागर ऋषिराज!
तुमने मुझे सफल बनाया आज।
और इक बार करो उपकार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार।।२०।।

श्री ज्ञानसागराय नम.

अन्य भक्ति-गीत

1. अब मैं मम मन्दिर में रहूँगा

अमिट अमित अरु अतुल अतीन्द्रिय
अरहन्त पद को धरूँगा।
सज धज निजको दश धर्मों से –
सविनय सहजता भजूँगा।। अब मैं।।
विषय - विषम - विष को जकर उस -
समरस पान मै करूँगा।
जनम मरण अरु जरा जनित दुख -
फिर क्यो वृथा मै सहूँगा? ।। अब मै।।
दुख दात्री है इसीलिए अब -
न माया - गणिका रखूँगा।
निसग बनकर शिवागना सग -
सानन्द चिर मैं रहूँगा ।।अब मैं।।
भूला परमे फूला झूला -
भावी भूल ना करूँगा।
निजमे निजका अहो! निरन्तर -
निरजन स्वरूप लखूँगा।। अब मैं।।
समय समय पर समयसार मय -
मम आतम को प्रनमूँगा।
साहुकार जब मैं हूँ, फिर क्यो -
सेवक का कार्य करूँगा? ।।अब मैं।।

2. पर भाव त्याग तू बन शीघ्र दिगम्बर

छिदजाय, भिदजाय, गलजाय, सडजाय,
सुधी कहे फिरभी विनश्वर जडकाय।
करे परिणमन जब निज भावो से सब,
देह नश रहा अब मम मरण कहॉं कब?।।
तव न ये, सर्वथा भिन्न देह अम्बर,
पर भाव त्याग तू बन शीघ्र दिगम्बर।।१।।
बन्ध कारण अत रागादितो हेय,
वह शुद्धात्म ही अधुना उपादेय,
'मेरा न यह देह" यह तो मात्र ज्ञेय,
ऐसा विचार हो मिले सौख्य अमेय।
दुख की जड आस्रव शिव दाता सवर,
पर - भाव त्याग तू बन शीघ्र दिगम्बर।।२।।
अब तक पर मे ही तू ने सुख माना,
इसलिये भयकर पडा दुख उठाना।
वह ऊँचाई नहीं जहॉं से हो पतन
तथा वह सुख नहीं जहॉं क्लेश चिंतन।
इक बार तो जिया लख निज के अन्दर,
पर भाव त्याग तू बन शीघ्र दिगम्बर।।३।।
स्व-पर बोध विन तो! बहुत काल खोया,
हाय! सुख न पाया दु:ख बीज बोया।
"विद्या" ऑख खोल समय यह अनमोल,
रह निजमे अडोल अमृत - विष न घोल।
शुद्धोपयोग ही त्रिभुवन मे सुन्दर।।
पर भाव त्याग तू बन शीघ्र दिगम्बर।।४।।

3. मोक्ष - ललना को जिया ! कब बरेगा?

स्वरूप - बोध बिन, सहता दुख निशिदिन,
यदि उसे पाता, तू बन सकता जिन।
नितनिजा - नुमनन कर व्यामोह हनन,
चाहता न मरण यदि न जरा न जनन।
आशा - गर्त यह कदापि न भरेगा,
मोक्ष - ललना को जिया! कब बरेगा?।।१।।
सुखदाता नहीं मात्र वस्त्र मुचन,
दुखहर्ता नहीं मात्र केश लुचन।
करे राग द्वेष जो धर नग्न - भेष,
वे अहो जिनेश! पावे न सुख लेश।।
आत्मावलोकन अरे! कब करेगा,
मोक्ष – ललना को जिया ! कब वरेगा? ।।२।।
करता न प्रमाद, नहीं हर्ष विषाद,
लेता वही मुनि, नियम से निज - स्वाद।
सुमणि तज काच मे, क्यो तू नित रमता?
पी मद, अमृत तज, क्यो भव मे भ्रमता?
निज - भक्ति - रस कब, तुझ मे झरेगा?
मोक्ष - ललना को जिया! कब वरेगा? ।।३।।
तज मूढता त्रय, भज सदा रत्नत्रय,
यदि सुख चाहता ले ले, झट स्वाश्रय।
अब "विद्या" जाग, अरे! शिव - पथलाग,
शीघ्र राग त्याग, बन तू वीतराग।।
कब तक लोक मे, जनम ले मरेगा?
मोक्ष - ललना को जिया! कब वरेगा?।।४।।

4. भटकन तब तक भव में जारी

विषय - विषम विष को तुम त्यागो,
पी निज सम रस को भवि! जागो।
निज से निज का नाता जोडो,
परसे निज का नाता तोडो।।
मिले न तब तक वह शिवनारी,
निज - स्तुति जब तक लगे न प्यारी।।१।।
जो रति रखता कभी न परमे,
सुखका बनता घर वह पलमे।
वितथ परिणमन के कारण जिय!,
न मिले तुझको शिव-ललना-प्रिय।।
जप, तप तब तक ना सुखकारी,
निज स्तुति जब तक लगे न प्यारी।।२।।
सज, धज निजको दश धर्मों से
छूटेगा झट अठ कर्मो से,
मैं तो चेतन अचेतन हीतन,
मिले शिव ललन, कर यो चितन।।
भटकन तब तक भव मे जारी,
निज - स्तुति जब तक लगे न प्यारी।।३।।
अजर अमर तू निरजन देव,
कर्ता धर्ता निजका सदैव।
अचल अमल अरु अरूप, अखड,
चिन्मय जब है फिर क्यो घमड?
'विद्या' तब तक भव दुख भारी,
निज - स्तुति जब तक लगे न प्यारी।।४।।

5. बनना चाहता यदि शिवांगना पति

कर कषाय शमन, पच इन्द्रिय दमन,
नित निजमे रमण, कर स्वको ही नमन।
जिया! फिर भव मे, नहीं पुनरागमन,
ओ! क्या बताऊ! बस चमन ही चमन।।
समता - सुधापी, तज मिथ्या परिणति,
बनना चाहता यदि शिवांगना - पति।।१।।
केवल पटादिक वह मूढ छोडता,
सुधी कषाय - घट, को झटिति तोडता।
गिरि - तीर्थ करता वह जिन दर्शनार्थ,
जिनागम जो मुनि पढा नहीं यथार्थ।।
मद ममतादि तज बन तू निसग यति,
बनना चाहता यदि शिवागना - पति।।२।।
सुख दायिनी है यदि समकित - मणिका,
दुख दायिनी है वह माया - गणिका।
पीता न यदि तू निजानुभूति - सुधा,
स्वाध्याय, सयम, तप कर्म भी मुधा।।
दिनरैन रख तू केवल निज में रति,
बनना चाहता यदि शिवागना पति।।३।।
उपादान सदृश होता सदा कार्य,
इस विधि आचार्य बताते अयि! आर्य!
'विद्या' सुनिर्मल, - निजातम अत! भज,
परम समाधि मे स्थित हो कषाय तज।।
सयम भावना बढा दिन प्रति अति,
बनना चाहता यदि शिवागना पति।।४।।

6. चेतन निज को जान जरा

आत्मानुभवसे नियमसे होती
सकल करम निर्जरा
दुखकी शृखला मिटे भव फेरी
मिट जाय जनन जरा
परमे सुख कहीं है नहीं जगमे
सुखतो निज मे भरा
मद ममतादि तज धार शम दम यम
मिले शिव सौख्यखरा
यदि भव परम्परा से हुआ घबरा
तज देह नेह बुरा
तज विषमता झट भज सहजता तू
मिल जाय मोक्ष पुरा
देह त्यो बधन इस जीवको ज्यो
तोते को पिजरा
बिन ज्ञान निशिदिन तन धार भव वन
तू कई बार मरा
भटक भटक जिया सुख हेतु भवमे
दुख सहता मर्मरा
चम चम चमकता निजातम हीरा
काय काच कचरा

7. समकित लाभ

सत्य अहिसा जहॅा लस रही मृषा हिसा को स्थान नहीं।
मधुर रसमय जीवन वही फिर स्वर्ग मोक्ष तो यही मही।।
कितनी पर हत्या हो रही गाये कितनी रे! कट रहीं।
तभी तो अरे! भारत मही म्लेच्छ खण्ड होती जा रही।।
लालच–लता लसित लहलहा मनुज–विटप से लिपटी अहा।
भयकर कर्म यहॅा से हो रहा मानव दानव है बन रहा।।
केवल धुन लगी धन धन धन चाहे कि धनिक हो या निर्धन।
लिखते लेकिन वे साधु जन वह धन तो केवल पुद्गल कण।।
एकता नही मात्सर्य भाव जग मे है प्रेम का अभाव।
प्रसारित जहॅा तामस भाव घर किया इनमे मनमुटाव।।
याचना जिनका मुख्य काम बिना परिश्रम चाहते दाम।
सत्पुरुष कहे वे श्रीराम पुरुषार्थी को मिले आराम।।
कहॅा तक कहे यह कहानी कहते कहते थकती वाणी।
रह गई दूर वीर वाणी विस्मरित हुई हुई पुराणी।।
रसातल जा मत दु ख भोगो मुधा पाप बीज मत बोओ।
हाय! अवसर वृथा मत खोओ मोह नींद मे कब तक सोओ।।
युगवीर का यही सन्देश कभी किसी से करो न द्वेष।
गरीब हो या धनी नरेश नीच उच्च का अन्तर न लेष।।
वीर नर तो वही कहाता कदापि पर को नहीं सताता।
रहता भूखा खुद न खाता भूखे को रोटी खिलाता।।
क्लव यह करे सद विद्याभ्यास रहे वीर चरणो मे खास।
बस मुक्ति रमा आये पास प्रेम करेगी हास विलास।।

MY - SELF

Oh! Passionlessness which is my nature
So I am myself certain best teacher
Anent consiousness of imperfaction
I have no eternal and real relation
Objects of pleasure are like sharp razor
Whereby the soul deviates into danger
My nature is free from deceitfulness
?Because filled with sure uprightness
I am the store of asset of knowledge
So I am free from attachment and rage

परिशिष्ट

समग्र - 3

कविताएँ

☐ नर्मदा का नरम ककर

प्रकाशक –1 **सुभाषकपूरचद जैन**
1980 दी थ्री बदर्स
प्रथम सस्करण जवाहर रोड अमरावती

1981 2 वीर निर्वाण ग्रथ
द्वि स प्रकाशक समिति इन्दौर

प्रकाशक –3 माणकचद सुरेशचद जैन
तृ स 278 नया बाजार
अजमेर (म प्र)

☐ डूबो मत लगाओ डुबकी

प्रकाशक –1 मानमाल महावीर प्रसाद झाझरी
गौशाला रोड झुमरी तिलैया बिहार

2 कल्याणमल ज्ञानचद झाझरी
63 सर हरिराय गोयन्का स्ट्रीट
कलकत्ता –70

☐ तोता क्यो रोता

प्रकाशक – सुरेश सरल
सरल कुटीर गढा फाटक जबलपुर (म प्र)

☐ शब्द शब्द विद्या का सागर

(तीनो काव्य सग्रहो का सकलन)
ललित जैन – रोहतक

☐ मुक्तक शतक

प्रकाशक – विजय कुमार जैन
रोहतक

☐ दोहा स्तुदि शतक

प्रकाशक 1 दि जैन अतिशय शतक
क्षेत्र बीना बारहा (देवरी)

2 राजूलाल कुदनमल जैन सदर बाजार
दुर्ग (म प्र) (चतुर्विंशति तीर्थंकर स्तुति)

☐ पूर्णोदय शतक

प्रकाशक वीर विद्या सघ
गुजरात

☐ सर्वोदय शतक

प्रकाशक – वीर विद्या सघ
गुजरात
सिघई मेडीकल स्टोर्स 1
तेदूखेडा
कुडलपुर सिद्ध क्षेत्र से प्रकाशित 2
दमोह

☐ निजानुभव शतक

प्रकाशक गुलाबचद रमेशचद्र जैन पारिमार्थिक ट्रस्ट 3
अजमेर। (ग्वालियर दमोह तेदूखेडा वारावकी
आदि स्थानो से आठ सस्करण

☐ प्रारभिक रचनाएँ

प्रकाशक 1 चातुर्मास स्मारिका व्याबर
(राज) (१६७३)
2 स्मारिका कलकत्ता (समाचार पत्रक)
3 स्तुति – सरोज
सिघई ताराचद जैन बाझल
राजेश दाल मिल
पथरिया (दमोह)